व्रजविदेही महन्त तथा चतुःसम्प्रदाय श्रीमहन्त

श्री१०८ श्रीरामदास काठिया बाबाजी महाराज

का

जीवन चरित

जविदेही महन्त तथा चतुःसम्प्रदाय श्रीमहन्त

श्री १०८ श्रीरामदास काठिया बाबाजी

महाराज का जीवन-चरित्र

o

तदीय प्रशिष्य व्रजविदेही महन्त तथा
चतुःसम्प्रदाय श्रीमहन्त स्वामी
श्री धनञ्जयदास बाबाजी महाराज प्रणीत

द्वितीय संस्करण

मार्च १९९३

प्रकाशक
श्री धनञ्जयदास चैरिटेबुल ट्रस्ट
सन्तदास काठियाबाबा का आश्रम
बी ३/३१०, शिवाला, वाराणसी

द्वितीय संस्करण

© प्रकाशक के द्वारा सर्वस्वत्व संरक्षित

मुद्रक :
ग्रेफिक आर्ट प्रोसेस
डी. ४०/५३, लक्ष्मणपुरा
गोदौलिया, वाराणसी-१

सहयोगी प्रतिष्ठान :
युनिक् ब्लाक वर्क्स

प्राप्ति स्थान :

काशी : **काठिया बाबा का आश्रम**
बी ३/३१०, शिवाला, वाराणसी

वृन्दावन : **काठियाबाबा का स्थान**
गुरुकुल रोड
पो०-वृन्दावन, जिला-मथुरा (यू० पी०)

सुखचर : **काठिया बाबा का आश्रम**
पो०-सुखचर, जिला-२४ परगना

मूल्य : पचीस रुपये मात्र

भूमिका

इस ग्रन्थ में जिनका चरित्र वर्णन किया गया है, वे श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय के योगीश्वर महापुरुष थे। वे काठ का "आड़बन्द" (कमरबन्द) और कौपीनधारी थे इसलिए "काठिया बाबा" के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। उनका नाम था "श्री १०८ स्वामी रामदासजी काठिया बाबा"। कलकत्ता हाईकोर्ट के सुप्रसिद्ध वकील श्री ताराकिशोर चौधुरी एम० ए० बी० एल० महोदय ने उनसे दीक्षा लेकर बहुत वर्षों तक उनका संग करके अच्छी तरह परीक्षा-निरीक्षा के द्वारा उनके चरित्र को प्रत्यक्ष कर उनका एक जीवन-चरित्र वङ्ग-भाषा में लिखा था। उसके बहुत संस्करण भी हो गए हैं और वह ग्रन्थ अभी तक मिलता भी है। आज से ४६ वर्ष पहले सम्वत् १९८३ में मथुरा के मुख्त्यार श्री वनवारीलाल भटनागर नामक मेरे एक गुरुभाई ने उस बँगला जीवन-चरित्र को वङ्ग-भाषा तथा हिन्दी-भाषाभिज्ञ एक पण्डित से हिन्दीभाषा में अनुवाद कराकर मुद्रित करवाया था। लेकिन उस ग्रन्थ की प्रतियाँ कुछ दिनों में समाप्त हो गईं थीं और फिर उसका पुनर्मुद्रण नहीं हुआ है। इसलिए वह ग्रन्थ दुष्प्राप्य हो गया है।

श्री वृन्दावनधाम में काठिया बाबा के कई आश्रम हैं; काशीधाम में भी अब एक काठिया बाबा का आश्रम स्थापित हुआ है और उसमें "श्री श्री रामदास काठिया बाबा संस्कृत महाविद्यालय" की भी स्थापना हुई है। काठिया बाबा की गद्दी के महन्त को प्रतिवर्ष व्रजपरिक्रमा और प्रत्येक कुम्भ-मेले में भी नियमित रूप से जाना पड़ता है। सर्वत्र ही लोग काठिया बाबा के सम्बन्ध में पूछते रहते हैं और उनका हिन्दीभापा में जीवन-चरित्र चाहते हैं। जब कहता हूँ कि हिन्दीभाषा में मुद्रित जीवन-

चरित्र बहुत दिनों से नहीं मिलता है, वह दुष्प्राप्य हो गया है, तब सब लोग कहते हैं कि हिन्दी-भाषा में काठिया बाबा का जीवन-चरित्र अवश्य मुद्रित करावें। आजकल कागज का मूल्य और मुद्रण-व्यय अत्यन्त अधिक हो गया है। इसलिए जीवन-चरित्र को यथासम्भव संक्षेप करके मैंने इस ग्रन्थ को लिखकर मुद्रित करवाया।

आजकल की स्थिति में इस ग्रन्थ के पढ़ने से सर्वसाधारण का हित होगा यह भरोसा करके इस ग्रन्थ को मैं सर्वसाधारण के सम्मुख उपस्थित कर रहा हूँ। यदि इसे पढ़कर आर्य-ऋषियों के पद-चिन्ह पर चलने की रुचि जनसाधारण में वृद्धि हो तो मैं समझूँगा कि मेरा परिश्रम और ग्रन्थ-प्रकाशन सार्थक हुआ है।

मेरे प्रिय शिष्य श्रीमान् कल्याण कुमार सान्याल तथा उसकी पत्नी एवं मेरी प्रिय शिष्या श्रीमती पार्वती सान्याल ने इस ग्रन्थ के मुद्रण-कार्य में एवं व्यय-भार उठाने में बहुत परिश्रम किया है। इसके लिए मैं उन दोनों को प्रभूत आशीर्वाद करता हूँ और श्रीभगवद्कृपा से उनका यथार्थ कल्याण-लाभ हो यही मैं चाहता हूँ।

मेरे प्रिय शिष्य श्रीमान् कृष्णदास चट्टोपाध्याय ने विशेष परिश्रम के साथ प्रूफ देखने के कार्य में मुझे सहायता की है। इसके लिए मैं उसे विशेष रूप से आशीर्वाद करता हूँ।

इत्यलम्।

धनञ्जयदास

काठिया बाबा का आश्रम
सुकचर, जि० २४ परगना,
तिथि—कार्त्तिक-पूर्णिमा,
सम्वत् २०२६

सूचीपत्र

		पृष्ठ-संख्या
प्रथम अध्याय :	बाल्यावस्था, वैराग्याश्रम ग्रहण, जन्मस्थान-गमन	१-११
द्वितीय अध्याय :	श्री रामदासजी के गुरुजी का स्वरूप, महिमा तथा अन्तर्धान	१२-३०
तृतीय अध्याय :	श्रीरामदासजी की तपस्या, सिद्धिलाभ, भगवद्दर्शन	३१-६९
चतुर्थ अध्याय :	श्री ताराकिशोरजी का संक्षिप्त परिचय, श्री ताराकिशोरजी की दीक्षा, श्रीरामदासजी की व्रजपरिक्रमा और उस समय की लीला	७०-१४८
पंचम अध्याय :	सद्गुरु रूप से उनकी कृपा का दिग्दर्शन, श्रीरामदासजी का बाहरी व्यवहार, श्रीरामदासजी के उपदेश, अन्तर्धान	१४९-१९५

[बंगला तारीख ३ जैष्ठ १३२२ साल सोमवार अक्षय-तृतीया तिथि को श्रीवृन्दावनधाम में श्रीताराकिशोर चौधुरी महोदय कर्त्तृक निर्मित मन्दिर की प्रतिष्ठा हुई ।

उस के उपलक्ष में श्रीविजयकृष्ण गोस्वामीजी के भक्त-शिष्य सुकण्ठ श्रीयुत रेवतीमोहन सेन महोदय ने निम्नलिखित गीत की रचना कर अन्यान्य गुरुभाइयों के साथ उक्त मन्दिर में गान किया ।]

झिंझिट—एकताला

जय जय श्रीरामदास स्वामीजी महन्त महाराज
जयतु देव व्रजविदेही जय जय तुम्हारी ।
निर्विकार शान्त दान्त व्रजमंण्डल एकमहन्त
मुग्ध भ्रान्त मानववृन्द बन्धमोचनकारी ।।
दुर्लभ व्रजरज लागी आशेशव सर्वत्यागी
काठ-कठिन कोपीनधारी एकनिष्ठ ब्रह्मचारी ।।
श्री अंगे ब्रह्मतेज विराज भास्करकोटी पाय लाज
पावक जनु मूर्त्तिमन्त कल्मषतमहारी ।।
वज्रादपि कठोर रीति कुसुमकोमल मधुर प्रीति
गम्भीर गूढ़ पूतचरित सुर नरचितहारी ।।
करुण नयने अमिय उछल निछनी सजल शतदल दल
वरषे सतत सुमङ्गल शत शत सन्ताप निवारी ।।
अपरूप रूप महिमा वैभव अपरूप लीला माधुर्य तव
प्रसीद प्रसीद प्रसीद देव ! प्रणमि चरणे तुम्हारी ।।

दो शब्द

निम्बार्क सम्प्रदाय के जिन महात्माओं ने आधुनिक युग में भी भारत का गौरव तथा उसके त्याग और तपस्या की श्रृंखला कायम रखी, उनमें श्री १०८ श्री रामदास कठिया बाबाजी महाराज का स्थान बहुत ऊंचा है। अपने शिष्य स्वामी संतदास जी के रूप में उन्होंने संसार को एक अनुपम रत्न दिया है, उनके प्रशिष्य श्री धनंजयदास कठियाबाबा जी ने श्री रामदास कठियाबाबाजी महाराज का जीवन चरित्र हिन्दी में प्रस्तुत किया।

यह ग्रंथ सम्वत् २०२६ में स्वामी सन्तदास निम्बार्क दर्शन समिति की ओर से प्रकाशित किया गया था। अब यह ग्रन्थ दुष्प्राप्य हो गया है। श्रद्धालु भक्तों में इस ग्रन्थ की पुनः मांग को देखकर, मैंने इसे पुनः प्रकाशन का विचार किया है।

यह ग्रन्थ श्रद्धालु भक्तों के मन को सदा भगवन्मुखी करेंगे ऐसी आशा है। इसी प्रत्याशा से हमारे पूज्य गुरूजी ने इस ग्रन्थ का बंगला से हिन्दी में अनुवाद किया था। महापुरूषों का जीवन चरित्र किसी एक देशकाल के मनुष्य के लिये ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण मानव मात्र की अमूल्य धरोहर है। इसीको ध्यान में रखते हुए यह द्वितीय संस्करण हम प्रसन्नता के साथ पाठकों से सम्मुख रख रहे हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन के लिये मैं वाराणसी संतदास कठियाबाबा आश्रम के महन्त श्री विष्णुदास जी का आभारी हूं। जिन्होंने अपने तन, मन एवं धन से अमूल्य सहयोग दिया है। दुष्प्राप्य पाण्डुलिपि के लिये श्रीमती पार्वती सान्याल के प्रति भी कृतज्ञ हूं। अन्त में मुद्रण कार्य के लिये यूनिक ब्लाक का भी आभारी हूं।

हमें विश्वास है कि इस पुस्तक के द्वारा पाठकों का अनेक दिशाओं में मार्गदर्शन होगा।

निवेदक

वृन्दावन विहारी दास

सचिव

वाराणसी, ६-३-९३

श्री धनञ्जयदास चैरिटेबुल ट्रस्ट

बी ३/३१०, शिवाला

वाराणसी-२२१ ००१ उ० प्र०

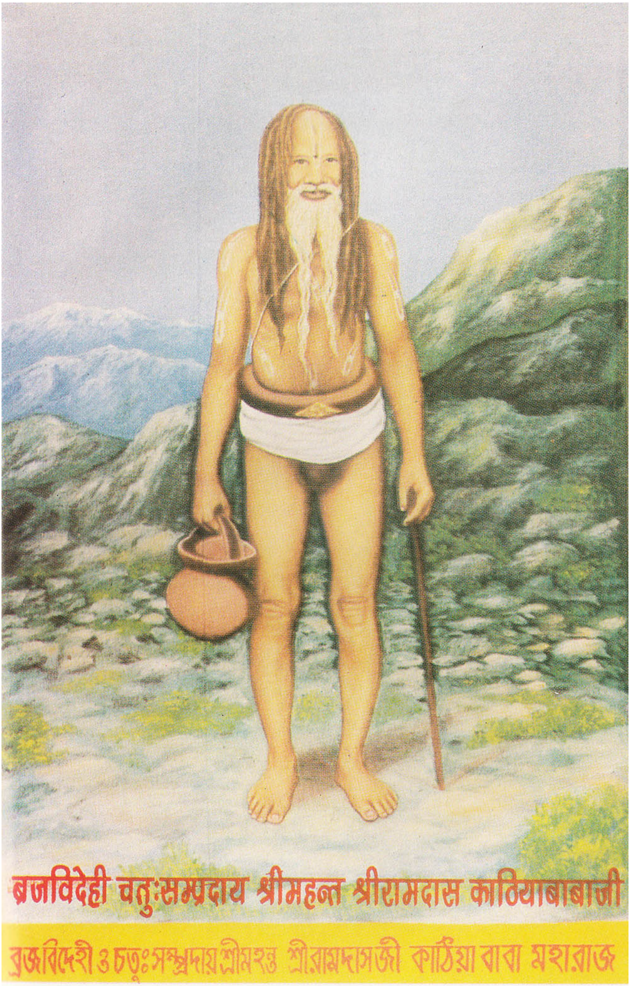

ब्रजविदेही महन्त तथा चतु:सम्प्रदाय श्रीमहन्त
श्री १०८ श्री स्वामी रामदास काठिया बाबाजी महाराज

प्रथम अध्याय

श्री १०८ श्री स्वामी रामदासजी काठिया बाबा का जीवन चरित्र

बाल्यावस्था

अमृतसर से लगभग २० कोस दूर "लोनाचमारी" ग्राम के ब्राह्मणवंश में श्री रामदासजी का जन्म हुआ था। उनके माता-पिता ने उनका नाम जयराम रक्खा था। उनके माता-पिता उस ग्राम के विशेष नामी और सम्माननीय व्यक्ति थे। जयराम उनके तृतीय पुत्र थे।

उनके पिता के घर के बहुत ही निकट एक परमहंस जी रहते थे। जयराम बचपन में उनके पास जाकर बहुत बैठते थे। परमहंसजी उन पर बहुत स्नेह रखते थे। गाँव के छोटे-बड़े सब प्रकार के लोग उनके दर्शनार्थ प्रतिदिन आते थे और उनको साष्टांग दण्डवत् करते थे, बालक जयराम उसे देखते थे और अपने हृदय में विचारते थे कि संसार में यह परमहंस जी सबसे बड़े हैं। यह देख जयराम की उनके प्रति बड़ी भारी श्रद्धा हो गई। एक दिन चार वर्ष की अवस्था में वे जब परमहंस जी के पास अकेले बैठे थे, उस समय परमहंसजी बड़े स्नेह के साथ उनसे इधर-उधर की बातें कर रहे थे कि इतने में उन्होंने उन से कहा, "महाराज! आप इस संसार में सबसे बड़े हैं, सभी लोग आ-आकर आपके चरणों में माथा टेकते हैं, आप से मैं पूछता हूँ कि आप इतने बड़े कैसे हो गये?"

परमहंसजी हँसकर बोले—"बाबा ! मैं सर्वदा राम-नाम जपता रहता हूँ, राम के नाम ने ही मुझे बड़ा बनाया है। राम-नाम लिया करो, तुम भी ऐसे ही बड़े होगे।" जयराम बोले—"राम-नाम लेने से यदि इतने बड़े हो जा सकते हैं तो मैं भी राम नाम जपूँगा।" वे उस समय से अपने जी में सदा राम-नाम जपने लगे और वे जब जब परमहंसजी के पास जाते, तब वे भी राम-नाम जपने में उन्हें उत्साहित किया करते थे।

जयराम जब सात वर्ष के हुए, तब एक दिन मध्याह्न के समय घर के भैंसों को चरा रहे थे कि इतने में एक साधुजी उनके पास पधारे। साधुजी के शरीर की छटा देखकर वे मुग्ध हो गये। साधुजी मुस्कराते मुस्कराते उनके पास आकर उनसे बोले—"बच्चा ! हमको कुछ खिलायेगा ?" जयराम ने कहा—"जी हाँ, मैं आपको खिलाऊँगा; आप यहाँ रहकर मेरी भैंसों को देखते रहिये, मैं घर में जाकर आपके लिये कुछ लाऊं।" साधुजी बोले—"मैं तेरी भैंसों को देखता हूँ, मेरे लिये कुछ खाने को ला"। जयराम घर जाकर चुपचाप भण्डार में घुसकर अपनी इच्छानुसार बहुत घी चीनी और आटा उठाकर साधुजी के पास लाये। साधुजी उन सामग्रियों को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उसे लेकर वरदान दिया—"बच्चा ! तूं योगिराज होगा।" जयराम ने कहा—"मेरे तो माता-पिता हैं, घर-द्वार हैं, भैंसें हैं, मैं नित्य पाँच सेर दूध पीता हूँ, मैं योगिराज कैसे होऊंगा ?" साधुजी बोले—"बच्चा ! मेरे वचन से तू जरूर योगिराज हो

जायेगा।" इतना कहकर वे अन्तर्द्धान हो गये; तत्काल ही जयराम के हृदय में यह अनुभव होने लगा कि उनका संसार छूट गया, माता-पिता, घर तथा भैंस आदि का मोह टूट गया। उन्होंने जाना कि गृहस्थाश्रम उनके लिये नहीं है। पर अपने जी का यह भेद उन्होंने किसी से नहीं खोला।

तब से कुछ दिनों के पश्चात् जयराम का उपनयन संस्कार कराकर पिताजी ने उन्हें शास्त्र पढ़ने के लिये एक दूसरे गाँव में एक नामी विद्वान गुरुजी के यहाँ भेजा। वे उनके पास शास्त्र पढ़ने लगे। एक-दो बार पढ़कर ही उनका दिन नियमित पाठ अभ्यस्त हो जाता था। तत्पश्चात् लड़कों के साथ पढ़ने या खेलने में न लगकर वे एक ओर बैठकर परमहंसजी के उपदेश के अनुसार रामनाम का जप करते थे। इस प्रकार गुरुजी के यहाँ रहते आठ-नौ वर्ष बीत गये। उन्होंने सारस्वत व्याकरण, ताराचक्र आदि ज्योतिष, कुछ धर्मशास्त्र, विष्णुसहस्रनाम आदि शास्त्र पढ़ लिये। तदनन्तर गुरुजी महाराज ने उन्हें गीता पढ़ाना प्रारम्भ किया। गीता पाठारम्भ करते ही वे समझने लगे कि मानो वे प्राण को प्राप्त हो गये हैं गीता उन्हें प्राणों से भी प्यारी हो गयी। गीताध्ययन समाप्त हो जाने पर, उनके गुरुजी महाराज ने गुरुकुल में पाठ समाप्त हो गया समझकर उन्हें घर लौटने की आज्ञा दी। उन्होंने गुरुजी को अभिवादन कर अपने पठित ग्रन्थों की एक गठरी बना पीठ पर ले ली, पर श्रीमद्भगवद्गीता उन्हें इतनी प्यारी थी कि उस ग्रन्थ को वक्षःस्थल पर धर कपड़े से बाँध गुरुजी के यहाँ से वे पिताजी के घर की ओर चल दिये।

वैराग्याश्रम-ग्रहण

घर पर लौटने के पश्चात् उनके पिताजी उनके विवाह का प्रबन्ध करने लगे। उन्होंने विनती की कि "मैं विवाह नहीं करूँगा, अपने अन्यान्य पुत्रों का, जो अविवाहित हैं, आप विवाह करा दें।" पिताजी ने उनकी विनती को मान उनके छोटे भाइयों का विवाह करा दिया।

जयराम ने पहले गायत्री मन्त्र को सिद्ध करना चाहा। ग्राम के एक प्रान्त में पिताजी के घर के समीप ही एक बड़ा सा बट-वृक्ष था। उन्होंने गायत्री मन्त्र के शाप, शापोद्धार और कवच आदि को यथाविधि सीख, उस वृक्ष के नीचे बैठ, विधि-पूर्वक गायत्री मन्त्र जपना आरम्भ किया। सवा लक्ष जप पूर्ण होने से यह मन्त्र सिद्ध होता है ऐसा ज्ञात रहने से वे इतने ही जपों को पूरा करना ठानकर एकाग्र मन से जप करते रहे। जब एक लक्ष जप पूरे हो गये, तब अचानक आकाशवाणी हुई कि—"वत्स! बाकी २५ हजार जपों को तू ज्वालामुखी में जाकर पूरा करने से मैं सिद्ध होऊँगी।" इस आकाशवाणी को सुन अत्यन्त उत्साहित हो, उन्होंने तुरन्त ही ज्वालामुखी के लिये प्रस्थान किया। समवयस्क एक भतीजा भी उनके साथ चला। ज्वाला-मुखी उनके पित्रालय से तीस-चालीस कोस की दूरी पर था। मार्ग में जाते हुए एक स्थान पर उन्होंने देखा कि, एक अतिशय तेजः—पुञ्जकलेवर वृहत् जटाधारी साधु बैठे हैं। उनको देखते ही उनके प्रति वे अत्यन्त आकृष्ट होकर उनके पास उपस्थित हुए और

साष्टांग दण्डवत् प्रणाम कर बोले—"महाराज ! मैंने ब्राह्मण-कुल में जन्म ग्रहण किया है, मैं आप के चरणों में शरण लेता हूँ, आप मुझे अपना चेला बनाइये।" साधुजी प्रसन्न हुए और मुस्कराकर बोले—"तुझे चेला बनाऊंगा, तू यहाँ रह जा।" उसी दिन मुण्डित होकर उन्होंने उनसे वैराग्य आश्रम में प्रवेश करके नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया। उसी समय गुरुजी की कृपा से उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि उनके समस्त अभीष्ट पूर्ण हो गये, उनकी सब प्रकार की अशान्ति दूर हो गई और वे आनन्द में मग्न हो गये। गुरुजी ने जयराम के वैराग्य-आश्रम का नाम 'रामदास' रखा। जयराम का भतीजा जो उनके साथ आया था, दङ्ग होकर चुप रह गया और उसने घर लौटकर उनके माता-पिता को वह संदेशा दे दिया। सुनकर उनकी माताजी रोते रोते विकल हो पड़ीं। यह देखकर उनके पिताजी उनके भतीजे को संग में लेकर गुरुजी के पास पधारे और गुरुजी के चरणों में गिरकर रोते-रोते बोले—"आप एक बार मेरे इस बच्चे को छोड़ दीजिये, इसकी माता इसके बिछोह से विकल हो पड़ी है, उससे एकबार भेंट कर वह फिर आपकी सेवा में चला आयेगा"। गुरुजी दयार्द्र होकर रामदास से बोले—"अच्छा बच्चा, साधु को एकबार जन्मस्थान का भी दर्शन करना चाहिये, सभी ठौर एक सा है, इसमें कुछ दोष नहीं, तुम इनके सङ्ग में जाओ और अपने जन्म स्थान को चेताओ।" वे गुरुजी को आज्ञा पा उनको साष्टांग दण्डवत् प्रणाम कर पिताजी के साथ जन्म-स्थान को लौटे।

जन्मस्थान गमन

पिताजी के साथ जन्मस्थान में लौटकर जिस वट वृक्ष के नीचे गायत्री-मन्त्र का जप किया था, वहाँ ही अपना आसन लगाया और एक एक दिन एक एक घर में वे बारी-बारी से दोपहर को भिक्षान्न लेने लगे। पहले दिन ही रात्रि में उस वृक्ष के नीचे वे जब अपने आसन पर मन को एकाग्र कर बैठे थे, तब अचानक आकाश-मण्डल भेद कर गायत्री देवी आविर्भूत हुईं। देवी ने कहा—"बेटा! तुम्हारी निष्ठा से प्रसन्न होकर मैं तुम्हारे लिये सिद्ध हुई हूँ, मेरे मन्त्र का और जप तुमको न करना पड़ेगा; तुम मुझ से वरदान माँगो।" वे यथोचित रीति से उनको प्रणाम कर बोले—"मातेश्वरि! अब तो मैं साधु हो गया हूँ, संसार छोड़ चुका हूँ, मेरी कोई भी वासना नहीं रही, आप मेरे ऊपर प्रसन्न रहिये, इसको छोड़ और किसी वरदान की अब मुझे आवश्यकता नहीं है।" देवी "एवमस्तु" (ऐसा ही होगा) कहकर तिरोभूत हो गयीं।

तत्पश्चात् पूर्वोक्त नियमानुसार वे दोपहर के समय एक एक दिन एक एक घर में भोजन कर निर्वाह करने लगे। पर जिस दिन वे अपनी माता के घर पहुँचे, उस दिन उनके आगे भिक्षान्न रखकर उनकी माँ फूट-फूट कर रोने लगीं; तब वे बोले—"माँ! इस प्रकार रोने से मैं कैसे खाऊँगा?" इससे उनकी जननी कुछ शान्त हो गईं और उन्होंने भिक्षान्न तो खा लिया पर माताजी

का अश्रु-प्रवाह बन्द नहीं हुआ। भोजन कर चुकने पर वे बोले, "तुम यों रोओगी तो मैं कैसे यहाँ आऊंगा? मैं ने जो पन्थ लिया है उससे तो मेरा और तुम्हारा दोनों का ही कल्याण होगा।" यह सुन माताजी ने कहा -"अच्छा बेटा! तुम्हारा भला हो, मैं अब न रोऊँगी, और बारी-बारी से आने की जैसी बात ठहरी है उसे मान तुम मेरे यहाँ भिक्षान्न लेने आना।"

वे उसी वट के नीचे अपने आसन पर बठकर भजन-मनन करने लगे और दोपहर के समय बारी-बारी से एक-एक के घर जाकर भिक्षान्न लेने लगे। इसी प्रकार वहाँ कई दिन कट गये। एक दिन सन्ध्या के बाद उनके पूर्व आश्रम के सम्बन्ध की एक रूपवती युवती भ्रातृवधू उनके आसन के पास आ बैठी और बहुत देर तक नाना प्रकार का वार्तालाप कर लौट गई। तत्पश्चात् रोज संध्या के बाद वह अकेली उनके सन्निकट आकर आमोद-प्रमोद तथा हास्य सम्बन्धी बातें किया करती थी। उसके दो-तीन दिन इस भाँति आने से उन्हें उसके मनोगत अभिप्राय के सम्बन्ध में सन्देह हुआ। वे उससे बोले—"मैं साधु हुआ हूँ, तुम्हारी सी युवती को इस निर्जन स्थान में रात के समय अकेली मेरे पास न आना चाहिये। तुम धर्म सम्बन्धी बातें सुनना चाहती हो तो दिन के समय आ सकती हो, सन्ध्या के पश्चात् तुम और कभी मेरे यहाँ मत आना।" उनकी इस बात पर वह हँसकर बोली—"इसमें दोष ही क्या है?" उन्होंने कहा—"नहीं, तुम कभी न आना, इसमें दोष है, यह साधुओं के नियम के विरुद्ध है।"

पर दूसरे दिन रात को फिर भी उन्होंने उसे अपने आसन की ओर आते देखा तो क्रुद्ध होकर एक ढेला उठाकर उस पर फेंका, जिससे खिन्न होकर वह वहाँ से चली गयी। तब उन्होंने अपने मन में विचारा कि मैं यहाँ बहुत दिन से रह रहा हूँ, अब यहाँ रहना निरापद नहीं है, इसलिये मुझे इस स्थान को छोड़कर चला जाना चाहिये। यह विचार कर, सबसे विदा लेकर उन्होंने जन्म स्थान का परित्याग किया।

इस प्रकार और भी एकबार वे एक स्त्री के प्रलोभन में पड़ गये थे। उस घटना को उन्होंने जिस प्रकार वर्णन किया था, वह नीचे उद्धृत करता हूँ :—

"एक बार एक अतीवरूपयौवनसम्पन्ना रानी से संयोगवश मेरी भेंट हो गयी, वह बड़ी ही भक्ति से मेरी सेवा करने लगी। उसकी सेवा और भक्ति से मैं अलक्षित भाव से उस पर आकृष्ट होने लगा। तत्पश्चात् वह एक दिन एकान्त में मेरे पास आ सम्पूर्णरूप से मुझ को आत्मसमर्पण कर बोली—"मैं पतिहीना बालविधवा हूँ, आपकी ओर मेरा मन बहुत आकृष्ट हुआ है, इसलिये आप अब से मेरे ही साथ सदा रहिये, और मेरे समस्त राज्य का उपभोग कीजिये।" मेरा मन उसकी ओर पहले से ही कुछ आकर्षित हो चुका था; इसलिये मैं उसकी इस बात पर अपने मन में पहले तो कुछ प्रसन्न हुआ, पर तत्काल ही अपने वैराग्याश्रम का मुझे स्मरण हो गया, जिससे अपने मन को धिक्कार देकर मैंने रानी से कहा—"मैं साधु हूँ, मैं कैसे अपने आश्रम की अवज्ञा कर आप के साथ भोग

विलास कर सकता हूँ ! इसलिये आप मेरे प्रति मोह को छोड़िये, मैं अभी यहाँ से चला जाता हूँ।" यह कहकर मैं उस ठौर को शीघ्र छोड़ चला। पर उस रानी की ओर मेरा मन पहले ही अलक्षित रूप से आकृष्ट हो चुका था; बाट में चलते हुये उसके हाव-भाव के स्मरण से मेरा मन कभी-कभी उद्विग्न हो जाता था। कुछ कुछ दूर चलकर मैं विवश हो बैठने लगा, और मेरे जी में यही विचार उठने लगा कि उसके पास लौटकर जाऊँ कि नहीं। अन्त में भगवत्कृपा से मेरा मोह दूर हो गया, मैं फिर आत्मस्थ हो उस देश को छोड़ चला।" इस घटना को सुनाकर वे बोले—"बाबा ! स्त्री की आकर्षणी-शक्ति से पार पाना पुरुष के लिये, विशेषतः युवक के लिये बड़ा ही कठिन है, जो मैं उस फेर में पड़कर भलीभाँति जान गया कि बिना भगवत्-कृपा के जीव उस मोह से नहीं बच सकता।"

इस घटना का वर्णन करके श्रीराम दास जी ने और एक घटना का इस प्रकार वर्णन किया; यथा :—

"अपने बालवैराग्य की अवस्था में मैं एक बार और भी एक आपद् में पड़ गया था, जिससे भी मैं श्रीभगवत्कृपा से बच गया था। भारत के उत्तराखण्ड में गङ्गोत्री के पास एक पहाड़ पर भ्रमण करते हुए मैंने सामने एक वृहत् उच्च प्रस्तरमय पहाड़ देखा जिसके नीचे भूमि से संलग्न एक ठौर पर मुझे जान पड़ा कि एक प्रस्तर-खण्ड अलगाया हुआ सा था। कौतूहलवश मैं उस प्रस्तरखण्ड को ठेल-ठेलकर हटाने लगा तो वह सरका। मैंने देखा कि—वहाँ गुफा

का एक द्वार है, फिर भी कौतूहलवश मैं गुफा के अन्दर घुसा। गुफा में मैंने देखा कि अतिवृहत्काय बहुत प्राचीन सुपक्वजटाजूटधारी एक पुरुष योगासन में उपविष्ट हैं; उनकी भृकुटी के चमड़े नीचे की ओर इतने बढ़ गये हैं कि उनसे उनकी आखें सम्यक् आवृत हैं। उनको देखकर ही मैं लौटा और धीरे धीरे गुफा के बाहर चला आया। उन्होंने भी मेरे पीछे पीछे बाहर आकर अपनी आँखों पर लटकते हुये चमड़े को दोनों हाथों से धीरे धीरे ऊपर उठाया तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो उनके विशाल नेत्रों से अग्निवृष्टि हो रही है। यह देखतें ही मैं भयभीत हो सोचने लगा कि ये अभी मुझे भस्म कर डालेंगे, क्योंकि इनकी तपस्या में मैंने विघ्न डाला है। उन वृहत्काय पुरुष ने मुझसे पूछा–'तू कौन है?' डरसे हिचक कर मैंने उत्तर दिया–'महाराज! मैं आप का चेला हूँ।' उन्होंने कहा– चेला कैसा? मैं जो कुछ कहूँगा वह तू कर सकेगा?' मैंने कहा– आपकी कृपा से करूँगा।' जहाँ हम दोनों में वह बातचीत हो रही थी वह ठौर उस प्रस्तरमय पर्वत का एक प्रान्त था। उसके सन्निकट एक वृहत् घाटी थी जो कम से कम ५० हाथ गहरी थी। उस घाटी के निम्नभाग में नक्षत्रवेग से एक पर्वतीय निर्भर के समान गंगा नदी प्रवाहित हो रही थी। मेरे उत्तर को सुन पूर्वोक्त वृहत्काय अति प्राचीन पुरुष ने प्रवाहित गङ्गा-स्रोत की ओर संकेत करके कहा—'तू चेला हो तो उस में कूद पड़।' इस आज्ञा को सुनकर मेरे जी में यह विचार उठा कि यदि मैं गगाजी में न कूदूँ तो ये मुझे भस्म कर डालेंगे और यदि मैं कूदूँ तो भी कदाचित् मुझे मरना ही पड़ेगा। तथापि इन दोनों में

यही अच्छा है कि मैं इनकी आज्ञा को ही मानूँ, यह सोचकर मैं वहाँ से नीचे कूदकर गङ्गाजी के जल में प्रविष्ट हुआ, पर वेग की तीव्रता के कारण शीघ्र ही जल के ऊपर आ गया। संकीर्ण गङ्गा-स्रोत के उभय पार्श्व में वृहत् उच्च पर्वत होने के कारण घाटी में प्रकाश का प्रवेश बहुत कम होता था; उस अन्धकार-मय स्थान में वेग की तीव्रता के कारण विवश होकर मैं प्रवाहित होने लगा। तब उन पुरुष-प्रवर ने पहाड़ के ऊपर रहकर ही अपने योगवल से हाथ को प्रसारित कर मेरे केश पकड़ मुझे जल से उठा यकायक अपने सामने लाकर उपस्थित किया। मैं इस अलौकिक अद्भुत कर्म से चकित हो उनके चरणों में गिरा। मुझे स्नेह के साथ उठाकर वे बोले—'बेटा! तू चेला होने के योग्य है, तेरा कल्याण हो। तू अभी यहाँ से और कहीं चला जा' यह ऋषियों की तपस्या का स्थान है, यहाँ तू मत रह।' तब उनको दण्डवत् करके मैं वहाँ से चला। "बाबा! उत्तराखण्ड के पहाड़ों पर अनेक स्थलों में छिपकर ऐसे ऐसे प्राचीन ऋषि रहते हैं, जिनकी किसी प्रकार की अवज्ञा करने से बहुधा विपत्ति झेलनी पड़ती है।"

अनन्तर कुछ दिनों में श्री रामदास जी अपने गुरुदेव की सेवा में फिर आ पहुँचे।

द्वितीय अध्याय

श्री रामदासजी के गुरुजी का स्वरूप, महिमा तथा अन्तर्धान

श्रीरामदासजी ने अपने गुरु के स्वरूप और महिमा के सम्बन्ध में श्री ताराकिशोर जी को समय समय पर बातों ही बातों में जिस प्रकार बताया था, वे सब क्रमशः लिखे जा रहे हैं। श्री रामदास जी ने कहा है :—

"मेरे गुरुजी अति दीर्घकाय वृहत्-जटामण्डित थे और श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय के अन्तर्गत श्रीमन् नागाजी द्वारा (धारा) के आचार्य थे। उनका नाम था श्री १०८ स्वामी देवदासजी महाराज। अयोध्या प्रान्त के निकट किसी स्थान में उन्होंने जन्म लिया था। वे योगीश्वर सिद्ध पुरुष थे; उनके दर्शन करते ही अपने आप सब के सिर झुक जाते थे। वे छः मास तक आसन पर समाधि लगाकर विराजते थे। जब वे समाधिस्थ न रहते तब भी नहीं सोते थे। उस समय वे गाँजे और चरस का धुआँ कभी-कभी पीते थे और दिन में एक बार धूनी से कुछ विभूति मुझ से कपड़े के द्वारा छनवाकर एक काठ के कमंडल के जल में डलवाते और घोलकर उसे पी जाते थे। कुछ देर में डकार लेकर जल में घुली हुई उस विभूति को एक बर्त्तन में वमन कर देते थे। वे उस विभूति-मिश्रित जल को तुलवाकर पीते थे और वमन के बाद मुझसे कहते थे—'इसे तौल कर देखो कि मैं जितनी घूँट पी गया

था ठीक उतनी ही निकली है या नहीं।' मैं तौल में ठीक उतनी ही पाता था। केवल यही उनका आहार था। मैं समझता था कि वे साक्षात् भगवान ही हैं।

उनके आहार के विषय में मैंने एक दिन इस नियम का व्यतिक्रम भी देखा। एक दिन वे मुझ से बोले—'बाबा! हमारा पेट गर्मी से भर गया है, तुम हमको कुछ दूध पिलाओ तो गर्मी मिट जाय।' मैं तत्काल ही बस्ती में जाकर एक बड़े हण्डे में भरकर आधा मन दूध लाया और उनके सामने में रखकर हाथ जोड़ कर बोला—'महाराज! मैं यह दूध लाया हूँ आपकी जितनी इच्छा हो पीजिये।' तब उन्होंने प्रसन्न होकर हण्डे को दोनों हाथों से उठा लिया और देखते ही देखते सारा दूध पी लिया। आधा मन दूध को विना रुके पी जाते देखकर मैं दङ्ग हो गया। पर सारे दूध को पीकर उन्होंने कहा – 'बेटा! हमारे पेट की गर्मी कुछ तो मिटी है, बाकी और भी बहुत रह गयी; हमको कुछ और दूध पिलाओ।' इस बात पर दङ्ग होकर मैंने हाथ जोड़कर निवेदन किया— आप परमात्मा हैं; आपके कोठे की गर्मी को दूसरा कौन मिटा सकता है? मुझ में सामर्थ्य ही कितनी है कि मैं उसे मिटाऊँ? आप एक ही घूँट में आधा. मन दूध पी गये, इस पर भी जब आपके कोठे की गर्मी नहीं मिटी तो मैं और क्या कर सकता हूँ?' मेरी इस बात पर वे हँसकर बोले—'नहीं नहीं बच्चा, कुछ और दूध लाओ, तुम अब जो लाओगे उसी से हमारे कोठे की गर्मी मिट जायेगी।' फिर

मैं बस्ती में जाकर पाँच-सात सेर दूध लाया। वह भी वे पीकर बोले—'अब तो हमारे कोठे की गर्मी मिट गयी, हम प्रसन्न हुए।' किन्तु इस दूध को उन्होंने वमन करके नहीं निकाला।

गुरुजी की महिमा मैंने अनेकबार प्रत्यक्ष की। इस विषय में मैं यहाँ दो घटनाओं का वर्णन करता हूँ।

एक बार लगभग एक हजार साधुओं को सङ्ग में लेकर गुरु-महाराज ने लाहौर के निकट आसन स्थापित किया। शहर के बहुत बनिये, सेठ, साहूकार उनके और उनकी जमात के साधुओं के दर्शन के लिये आये। उन में एक अति धनाढ्य दुशाले का व्यापारी बनिया था। गुरु महाराज ने उस से कहा—'आज तुम इन साधुओं को खिलाओ।' वह बोला—'इतने साधुओं को मैं नहीं खिला सकूँगा।' इस के अतिरिक्त उसने साधुओं के प्रति कुछ अपशब्द भी कहे। गुरु महाराज बोले—'बनिया! तू धनमद से मत्त हुआ है, साधुओं की भी अवज्ञा करता है। इसलिये तुझे कुछ दण्ड मिलना चाहिये। जा, तू अपने घर को लौट जा, तेरे दुशाले के गट्ठर पर आज ही अग्निदेव का कोप होगा।' बनिये के चले जाने पर गुरु-महाराज ने कुछ जल हाथ में लेकर उसे अपनी धूनी की आग में छोड़ा और कहा 'बनिये के दुशाले के गट्ठर में यह आग लगी।' मैं उस समय उन के पास ही बैठा था।

थोड़ी ही देर में मैंने देखा कि बनिया ऊर्द्ध श्वास लेता दौड़ा आ रहा है, आते ही भूतल पर गिर पड़ा और रोते हुए बोला—

'महाराज ! मुझे रक्षा कीजिये, मेरा सर्वनाश हो रहा है, मेरे सन्दूक के दुशाले के गट्ठर में आग लग गयी है। मैं आप की जमात के सब साधुओं को सात दिन पर्यन्त खिलाऊंगा। गुरुमहाराज बोले—'अच्छा, तुम सात दिन जमात को खिलाना, तुम्हारे दुशाले की आग बुझ गयी। केवल तुम्हारे दण्ड के लिये एक दुशाला जल गया। साधुओं की फिर कभी अवज्ञा न करना।' उसी समय बनिये के घर से एक आदमी दौड़ता आया और बोला—'महाराज! जिस दुशाले में पहले आग लगती देखी गया, उस को हमने सन्दुक से बाहर निकाल दिया है, जिससे केवल एक वही दुशाला नष्ट हुआ और आग बुझ गयी है।' बनिया तत्काल ही गुरुदेव को साष्टांग दण्डवत् कर साधुओं के भोजनार्थ प्रबन्ध करने के लिये चला गया।

मैंने गुरुदेव को साष्टांग दण्डवत् कर हाथ जोड़ निवेदन किया—'महाराज ! इस विचित्र घटना से मैं बड़ा ही विस्मित हुआ हूं, मेरे सुनने के योग्य हो तो इसका भेद कृपया मुझे बतावें। वे प्रसन्न होकर बोले—'बेटा ! इसमें विस्मित नहीं होना, योगीश्वर लोग सब प्रकार की विद्याओं में कुशल होते हैं, प्रयोजन पड़ने पर उनका प्रयोग करते हैं। वह बनिया सज्जन है, केवल धनमद से गर्वित होकर धर्मपथ से भ्रष्ट हो रहा था। दण्ड पाकर अब से वह विनीत होगा और नाना प्रकार के धर्मानुष्ठान करेगा। जिस विद्या के द्वारा उसके कल्याण के लिये आज मैंने उसको दण्ड दिया, उसका नाम कालाग्निविद्या है। उसे तुमको मैं सिखलाऊँगा, पर उसे गुप्त रखना और कभी अपात्र को न सिखलाना।'

(२) एक बार विचरते विचरते हमलोगों को कुछ दूर पर छोड़ गरु महाराज ने भूपाल ताल पर जा अपना आसन स्थापित किया और उस पर बैठकर उन्होंने बड़े वेग से शंख-ध्वनि की। समीप ही ताल की दूसरी ओर एक मुसलमान नवाब का निवास-स्थान था। उन्होंने कुछ दिन पूर्व यह घोषणा की थी कि उनके निवासस्थान के निकट कहीं भी शंख अथवा घण्टा की ध्वनि न हो। जो कोई ध्वनि करेगा उसका शिरश्छेदन किया जायेगा। गुरुजी के जोर से शंख बजाने से उसकी ध्वनि नवाब साहब के कानों में पहुँची। तब उन्होंने अपने अनुचरों को यह आज्ञा दी—'जाकर देखो, कौन मेरी आज्ञा की अवज्ञा कर शंखध्वनि करता है।' तत्काल ही नवाब के अनुचरगण ने द्रुतवेग से ताल पर आकर देखा कि गुरुदेव हाथ में शंख लिये बैठे हैं और वे तुरन्त लौटकर नवाब से बोले—'एक जटाजूटधारी तेजस्वी योगी ने शंख बजाया है।' इस पर नवाब ने कहा – 'वह इतना धृष्ट है कि मेरी आज्ञा का उल्लङ्घन कर मेरे निवासस्थान के निकट ही ताल पर बैठ कर इस प्रकार शंखध्वनि कर रहा है! तुरन्त जाकर उसके मस्तक को काट डालो या उसको पकड़कर मेरे पास लाओ।' नवाब साहब के अनुचरगण अस्त्रशस्त्र लेकर जहाँ गुरुदेव बैठे थे उस स्थान पर गये, किन्तु वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि वहाँ कोई जीवित मनुष्य नहीं है, पर उस साधु का शिर एक स्थान पर, हाथ एक स्थान पर, पैर एक स्थान पर, इस प्रकार से शरीर खण्ड खण्ड होकर अलग अलग स्थान पर पड़ा है।

ऐसा देखकर अनुचर लोग लौट गये और नवाब से कहा कि उनलोगों के पहुँचने से पहले ही किसी दूसरे ने साधु के शरीर को खण्ड-खण्ड करके काट डाला है। किन्तु उसी समय ही फिर गुरुदेव ने जोर से शंखध्वनि की। उसे सुनकर नवाब ने अनुचरों को फिर वहाँ भेजा। इस बार अनुचरों ने वहाँ आकर देखा कि उस स्थान पर न तो कोई मनुष्य ही है और न देखे हुए साधु के शरीर-खण्ड ही। तब वे लोग विस्मित होकर नवाब के पास लौट गये और ये सब बातें कहीं। किन्तु उसी समय ही फिर उसी स्थान से शंख-ध्वनि सुनी गई। तब नवाब भयभीत हुये और विचारने लगे कि जो शंखध्वनि कर रहे हैं, वे कोई असाधारण शक्तिसम्पन्न सिद्ध महापुरुष होंगे, अतः उनसे विरोध करना संगत नहीं है। वे शाप देकर राज्य में कोई विघ्न उत्पादन न करें इस विचार से उनको प्रसन्न करने के लिये नवाब साहब ने अमात्यों के साथ उस स्थान पर स्वयं उपस्थित होकर देखा कि वहाँ जटाजूटधारी दीर्घकाय एक योगीपुरुष हाथ में शंख लिये बैठे हुये हैं। नवाब साहब और उनके अमात्यों ने उन योगीश्वर को अभिवादन करके क्षमा प्रार्थना की और कहा कि—'आप का जो अभिप्राय हो उसे पूर्ण करने की आज्ञा हमें दीजिये।' तब गुरुदेव ने कहा—'तुमने जो शंख-घण्टा बजाने का निषेध किया है, यह अतिशय अन्याय है; तुम मुसलमान हो, अपने धर्म का पालन करो, किन्तु हिन्दू अपने धर्म का पालन करेंगे, इसमें तुम क्यों बाधा डालते हो? अपने उस आदेश को तुम लौटा लो और मैं इस ताल के पास एक मन्दिर का निर्माण कराऊँगा उसमें तुम कोई बाधा मत डालना।' नवाब 'ऐसा ही होगा' कहकर गुरुदेव

को अभिवादन करके अपने मन्त्रियों के साथ अपने भवन को लौट गये। उसके पश्चात् गुरुदेव ने उसी स्थान पर मन्दिर का निर्माण कराया। तब से वही भूपाल-ताल मेरा गुरुद्वारा हुआ है।

इस प्रकार सद्गुरु की शरण पाकर मैं प्रफुल्लित मन से और निष्ठा के साथ उनकी सेवा करता हुआ उनके उपदेशों का पालन करने लगा। गुरुदेव ऐसे उपदेश मुझको देते थे जिनके पालन करने से मैं सच्चा साधु बनूँ। माया-मोह का कोई भी प्रभाव उनपर न था। मेरे लिये यह उपदेश था कि मैं सन्ध्या के पश्चात् धूनी लगाकर उस के निकट अपना आसन लगाऊँ और उसी पर बैठकर रातभर भजन किया करूँ तथा सन्ध्या बीतने पर और किसी के पास न जाऊँ। उन्होंने केवल तीन हाथ लम्बा एक वस्त्र मुझे दिया था। नियम यह था कि सामने धूनी हो जिसकी आँच से शरीर गर्म रहे और कपड़े को दोहराकर पीठ की ओर कन्धे से नीचे लटकाकर उस पर जटा फैला दूँ; इस प्रकार से पीठ को जाड़े से बचाऊँ। जो वस्त्र मुझे गुरुदेव ने दिया था उससे यदि पैरों को ढाँक मैं पैर पसार कर सोता तो छाती से शिर तक खुला रहता और यदि शिर ढाँक लेता तो पैर खुले रहते थे। इसलिये शीत से काँपते हुए पुनः उठकर बैठना पड़ता था। यों ही सारी रात आसन पर बैठकर भजन करना पड़ता था।

उन्होंने मेरी कमर में मोटी और भारी लकड़ी का आड़बन्द (कमरबन्द) और लकड़ी की लङ्गोटी विधिपूर्वक धारण करने के मन्त्रोपदेश के साथ पहना दिये थे। सोते समय यह लकड़ी का

आड़बन्द बहुत दिनों तक मुझे कष्ट देता था। यद्यपि अब इस आड़बन्द के कमर में रहते हुए लेटने का मुझको अभ्यास हो गया है, तथापि पहले यह भी मेरे रात के लेटने में बहुत बाधा डालता था। दिन में दोपहर के समय प्रसाद पाने के पश्चात् (अहोरात्र में एक ही बार आहार का नियम था।) कुछ देर तक बालुकामय स्थान में जाकर मैं आड़बन्द की लकड़ी को बालू में घुसा देता था; उससे समस्त शरीर समतल बालू पर रहता था और इससे उस समय सोने में कष्ट नहीं होता था। इस प्रकार से मैं कुछ समय सो लेता था।*

गुरुदेव शिष्यों पर कठोर शासन करते थे। शासन की कठोरता से उनके सभी शिष्य क्रमशः उनका सङ्ग छोड़कर चले गये। केवल एक मैं ही उनके सङ्ग रह गया। उनका शासन कैसा कठोर था वह निम्नोक्त घटनाओं से विदित हो जायेगा।

एक दिन उत्तराखण्ड में जाड़े की रात में धूनी के समीप बैठकर मैं भजन कर रहा था; पर तामस-आलस्य के कारण मुझे निद्रा आ गई। मैं विवश होकर धीरे-धीरे सो गया। निद्रा से अभिभूत हो जाने से कुछ समय तक मेरा चैतन्य नहीं रहा। वहाँ बर्फ पड़ती थी, इसलिये धूनी अपने आप थोड़ी देर में बुझ गयी। धूनी बुझ जाने से कुछ देर में इतना शीत मेरे शरीर में प्रविष्ट हुआ कि शरीर काँपने लगा, इसलिये अपने आप मेरी नींद टूट गई। मैं काँपते-काँपते उठ बैठा। मैंने देखा कि धूनी बुझ गई है, और चारों

* काठ का आड़बन्द और लंगोटी धारण करने से साधु-समाज में वे "काठिया बाबा" के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं।

ओर बर्फ पड़ रही है। धूनी में अग्नि प्रज्वलित न करने से मृत्यु निश्चित अनिवार्य है। मैं विचार करने लगा कि क्या करूँ। गुरुमहाराज ने मना कर रखा है कि रात में आसन को छोड़कर दूसरे किसी के पास नहीं जाना और उनके पास जाना भी निषिद्ध है। उनके पास जाकर आग माँगने से वे जान जायेंगे कि मैं भजन को छोड़कर सो गया था, इसलिये वे मुझे इस अपराध का दण्ड देंगे। किन्तु यदि आग न लाई जावे तो जाड़े से शरीर बर्फ हो जायेगा और मेरी निश्चित मृत्यु होगी। यह सब सोच-विचार कर मैंने अन्त में यह स्थिर निश्चय किया कि गुरुमहाराज चाहे जितना ही दण्ड क्यों न दें उनके पास ही आग माँगने को जाऊंगा। उनको धोखा देकर किसी दूसरे के पास मैं नहीं जाऊंगा। तब मैं धीरे-धीरे चलकर उनकी झोंपड़ी के द्वार पर जाकर खड़ा हुआ। उन्होंने तत्काल ही पूछा—'कौन बाहर खड़ा है?' मैं बोला—'महाराज! मैं रामदास हूँ।' उन्होंने कहा—'तू रात्रि में अपने आसन को छोड़कर यहाँ क्यों आया है?' मैंने कहा—'महाराज! मेरी धूनी बुझ गयी है, मैं थोड़ी आग लेने आया हूँ।' वे बोले—'तू सो गया था, नहीं तो धूनी कैसे बुझी? तू क्या यों ही सोने के लिये अपने माँ-बाप को रुलाकर घर-द्वार छोड़कर आया है? यदि इस प्रकार सोकर रात्रि व्यतीत करनी हो तो घर में सुख से सो सकता था। माता-पिता को कष्ट देने की क्या आवश्यकता थी?' ऐसी नाना बातें कहकर गुरुदेव मुझे डाँटने लगे। मैंने काँपते-काँपते कहा—'महाराज! मेरा अपराध हुआ है, अचानक निद्रा ने आकर मुझे अचेतन कर डाला, कृपया मेरा अपराध क्षमा कीजिये; मैं अब से विशेष सावधान रहूँगा।' यह सुनकर

उन्होंने अत्यन्त तेजस्विता के साथ मुझे तिरस्कार करके कहा—'तू जहाँ है वहीं घड़ी भर खड़ा रह. इस समय आग नहीं मिलेगी।' गुरु-महाराज की महिमा से मैं अवगत था, इसलिये मुझ में यह सामर्थ्य नहीं थी कि उनकी आज्ञा को न मानूँ। मैं वहीं खड़ा रहकर जाड़े से काँपने लगा। कुछ समय पश्चात् गुरुदेव ने अपनी धूनी से एक जलता हुआ कोयला बाहर फेंक कर कहा—'इस बार इसे ले जा, फिर कभी ऐसा न हो।' कोयले को ले जाकर मैंने फिर अपनी धूनी चेताई और आसन पर बैठकर भजन करने लगा।

एक दिन गुरुदेव मुझ से बोले—किसी प्रयोजन से मैं एक जगह जाऊँगा, मैं जब तक न लौटूँ तब तक तू यहाँ बैठा रह सकेगा? पर जब तक मैं न लौटूँ तब तक यहाँ से किसी कारणवश उठकर और कहीं नहीं जा सकेगा।' मैंने कहा—'आपका आदेश मैं प्राणपण अवश्य पालन करूँगा।' तब एक स्थान को दिखलाकर वे बोले—'मेरे न लौटने तक तू यहाँ बैठा रहना।' यह कहकर वे चले गये। मैं उनके लौटने की बाट देखता हुआ उसी स्थान पर बैठा रहा। क्रमशः दिन पर दिन व्यतीत होने लगे, किन्तु वे नहीं लौटे। अन्त में आठवें दिन वे लौटे। तब मैंने खड़े होकर उन को प्रणाम किया। उन्होंने पूछा—'बेटा! तू यहाँ ही बैठा था?' मैंने हाथ जोड़कर कहा—'हाँ महाराज! आप इस स्थान से जब चले गये तब से अभी तक मैं यहाँ ही बैठा हूँ।' वे बोले—'शौचादि क्रिया के लिये भी क्या तू उठकर यहाँ से कहीं नहीं गया था?' मैंने कहा—'जी नहीं, आपकी कृपा से

मुझको ऐसी कोई आवश्यकता नहीं पड़ी।' उन्होंने कहा—'तूने कुछ खाया भी नहीं?' मैंने कहा—'जी नहीं, मुझे कुछ आहार नहीं मिला।' तब उन्होंने प्रसन्न होकर कहा—'बेटा! गुरु की आज्ञा इस प्रकार से ही पालन करनी चाहिये, माता पिता को रुलाकर घर छोड़ आकर गुरु की आज्ञा को इसी प्रकार तन-मन-वचन से पालन करने से ही भगवान् प्रसन्न होते हैं और माता-पिता को रुलाना सार्थक होता है।'

गुरुदेव शिष्यों की कठिन परीक्षा भी करते थे। एक बार वे एक नगर से थोड़ी दूरी पर एक जङ्गल में अपना आसन लगाये थे। हम उनके तीन-चार चेले उनके साथ थे। चेलों में और सब मुझ से उम्र में बड़े थे। एकदिन अर्द्धरात्रि के पश्चात् गुरुदेव ने हम सब चेलों को बुलाकर कहा—'इस जङ्गल से थोड़ी दूरी पर जो नगर है, तुम में से कोई अभी वहाँ जाकर दो रुपये का गाँजा खरीद कर लाओ।' रात्रि अँधेरी थी और जङ्गल में भाँति-भाँति के हिंसक जन्तु रहते थे। इसलिये इतनी रात्रि में चेलों में से किसी ने जाना नहीं चाहा। तब मैं बोला—'महाराज! आपकी आज्ञा हो तो मैं जाने के लिये प्रस्तुत हूँ।' वे प्रसन्न होकर बोले—'अच्छा! तू ही जा; नगर में जाते ही दो रुपये तुझे मिल जायेंगे; उससे गाँजा खरीद कर लाना।' मुझे यह दृढ़ विश्वास था कि गुरुदेव का कार्य करने में मुझे किसी प्रकार का भय या विघ्न उपस्थित नहीं होगा। इसलिये मैं प्रणाम कर निर्भय जङ्गल-मार्ग को अतिक्रम करके शहर में प्रविष्ट हुआ। शहर में प्रविष्ट होकर देखा कि सब

दुकानें बन्द हैं और सन्नाटा छाया हुआ है। राजमार्ग पर से जाते-जाते कुछ देर में देखा कि थोड़ी दूरी पर एक घर में प्रकाश दिखाई दे रहा है। मैं धीरे-धीरे ज्योंही उसके दरवाजे के सामने गया, त्योंही एक आदमी ने मुझे देखकर प्रसन्नवदन घर से बाहर निकलकर मुझको दण्डवत् किया और कहा—'महाराज! आपने आज मुझ पर बड़ी कृपा की है। किसी साधु को मैं दो रुपये भेंट दूँगा यह संकल्प करके कोई साधु मिले या नहीं इस उद्देश्य से प्रतीक्षा कर रहा था; मेरा बड़ा भाग्य है कि आप इस समय यहाँ पधारे। मेरे सङ्कल्पित ये दो रुपये आप ग्रहण करें।' मैंने तब उन दो रुपयों को ग्रहण करके मन ही मन श्री गुरुदेव को स्मरण कर उनकी महिमा जानकर दण्डवत् किया, तत्पश्चात् मैंने गाँजा बेचने वाले की दुकान पर जाकर उसे जगाया और उससे उन दो रुपयों का गाँजा खरीदा। उन दिनों मेरा अपना भी गाँजा पीने का यथेष्ट अभ्यास था। इसलिये उस गाँजे से कुछ गाँजा एक चिलम में चढ़ाकर मैंने पी लिया और अवशिष्ट गाँजे को लेकर गुरुजी के पास आया और उसे उनके सामने रखकर उनको दण्डवत् किया। गुरुजी बोले—'बेटा! क्या गुरुजी का कार्य इसी प्रकार किया जाता है? अग्रभाग स्वयं पीकर अवशिष्ट क्या गुरुजी को देना चाहिये? ऐसी ही क्या तुम्हारी शिक्षा हुई है?' उनकी इस बात को सुनकर मैं निर्वाक् होकर रह गया। मैं समझ गया कि गुरुदेव यथार्थ ही अन्तर्यामी और सर्वज्ञ हैं, कोई दूरत्व ही उनकी दृष्टि का अवरोध नहीं कर सकता। तब मैंने हाथ जोड़ भयभीत

होकर कहा— 'प्रभो ! मेरा अपराध हुआ है, मैं अबोध बालक हूँ, आप की महिमा को नहीं जान सका, मेरे अपराध को कृपया क्षमा कीजिये, मैं कभी भी फिर ऐसा काम नहीं करूँगा।' तब प्रसन्न होकर गुरुदेव ने कहा— 'अच्छा, तुम बालक हो, तुम्हारे अपराध को इस बार मैं क्षमा करता हूँ, और कभी ऐसा काम नहीं करना; यह निश्चित समझना कि गुरु से किसी भी कार्य या चिन्ता को गोपन नहीं किया जा सकता।' तब मैंने अपने कान अपने हाथ से पकड़कर मन ही मन कहा कि गुरुदेव सर्वज्ञ भगवान् हैं, मैं कभी भी उनकी मर्यादा का लंघन नहीं करूँगा और ऐसे गुरु को मैंने लाभ किया है यह जानकर प्रतिज्ञा की कि इनके चरणों का परित्याग कर मैं और कहीं नहीं जाऊँगा।

इस प्रकार दृढ़व्रत होकर गुरुदेव का आदेश पालन करते हुए उनकी सेवा में मैं संलग्न रहा। उन्होंने कृपापूर्वक क्रमशः मुझे हठयोग की समस्त क्रियाओं के साथ अष्टांगयोग की शिक्षा दी तथा प्रयोगप्रणाली के साथ सब प्रकार मन्त्रों का उपदेश भी दिया और जिससे कि मेरे क्रोध, अभिमान आदि का दमन हो इसके लिये वे समय-समय पर मुझ पर नाना प्रकार से शासन करते थे तथा यन्त्रणा-दायक और क्रोधोद्दीपक वाक्यों के द्वारा तिरस्कार करते थे। सामान्य या कल्पित कारणों का बहाना करके मेरे प्रति 'भङ्गी', 'चमार', 'पेट के वास्ते वैराग लिया है' इस प्रकार के अपशब्दों का प्रयोग करते थे। इससे यह परीक्षा लेते थे कि उसके द्वारा मेरा क्रोध या अभिमान जागता है या नहीं। कभी नाना प्रकार के

स्वादिष्ट खाद्य-वस्तु मेरे सामने में रखकर परीक्षा करते थे कि मेरा उसके प्रति लोभ होता है या नहीं। कभी मुझे भूखा रखकर यह परीक्षा करते थे कि क्षुधा से मेरी धर्मबुद्धि विलुप्त होती है या नहीं। मुझ पर उनका मायारहित स्नेह इतना अधिक था कि मेरे कल्याण के लिये इस प्रकार कठोर व्यवहार करने में वे कुण्ठित नहीं होते थे।

इस प्रकार गुरुदेव के निकट रहकर मैं वर्ष पर वर्ष व्यतीत करने लगा। मैं उनको भगवत्स्वरूप देखता था और समय समय पर उनके प्रभाव और महिमा को देखकर विस्मित हो जाता था। इस प्रकार से बहुत वर्ष व्यतीत होने पर एक दिन गुरुदेव भीषण रुद्रमूर्त्ति धारण करके हाथ में डण्डा लेकर अचानक मेरे सामने आकर खड़े हुए और उस डण्डे से मुझे पीटते-पीटते सरोष गालियाँ देकर मुझसे कहने लगे—'मेरे बड़े-बड़े सभी चेले चले गये, तू अकेला मेरे पीछे क्यों पड़ा है ? तू मेरे पास से भाग जा। मैं किसी की सेवा नहीं चाहता हूँ।' यह कहते कहते उन्होंने इतना मारा कि मेरा सारा शरीर फूल गया और समस्त शरीर में भीषण पीड़ा होने लगी। मैं धीरे-धीरे उठकर खड़ा हुआ और हाथ जोड़कर विनीत और स्थिरभाव से मैंने निवेदन किया—'महाराज! मेरी एक बात आप कृपा करके सुनिये, मेरे माता-पिता के घर में खाने-पीने की कोई कमी नहीं थी यह आप जानते हैं। मैंने अपनी इच्छा से माता-पिता को त्याग कर आपकी शरण ली है; तब से मैं आप को ही पिता, माता, भाई, बन्धु

और गुरु जानकर आपकी सेवा में पड़ा हूँ। इस संसार में और किसी को भी मैं अपना नहीं जानता; आप मुझे त्याग दें तो मैं और कहाँ जाऊँ? आप यदि मुझको त्यागना ही चाहें तो मैं यह अपना गला आपके समीप उपस्थित करता हूँ, आप चाकू से इसे काटकर मेरा देहान्त कीजिये। जिन्दा रहते मैं कभी आपको छोड़कर नहीं रहूँगा।'

मेरे इस निवेदन को सुनकर गुरुदेव प्रसन्न हुए और बोले— 'बेटा! मैंने आज तेरी अन्तिम परीक्षा ली, तू परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ, तेरी बुद्धि निश्चल हुई है, मैं तुझ पर बड़ा प्रसन्न हुआ हूँ। तुझको मैं यह वरदान देता हूँ कि तेरा सर्वाभीष्ट पूरा होगा। तुझे भगवद्दर्शन मिलेगा और तेरे पास ऋद्धि-सिद्धि सदा उपस्थित रहेगी। तू जिससे जो कहेगा वही सफल होगा, तेरा वाक्य कभी निष्फल न होगा इत्यादि।' इन सब वरदानों को पाकर मैं अवाक होकर रह गया और गुरुदेव की परिक्रमा करके उनको मैंने साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया।

इसके कुछ दिन बाद एक दिन गुरुदेव ने एक बड़े नगर की सीमा पर जाकर अपना आसन स्थापित किया। कुछ दूरी पर मैंने भी अपना आसन लगाया। नगर से बहुत लोग दर्शन करने के लिये आने लगे। उन में से एक ने मुझे प्रणाम करके चार रुपये की भेंट चढ़ाई। मैंने उससे कहा—'तुम यह क्या करते हो? मेरे गुरुदेव पास ही विराजमान हैं, तुम जाकर उनकी सेवा में यह भेंट चढ़ावो।' उसने कहा—'बाबाजी! आप पर ही मेरी श्रद्धा हुई

है, यह भेंट आप के लिये ही मैंने चढ़ाई है। मैंने कहा—'यह कभी नहीं हो सकता, योगीश्वर गुरुमहाराज के साक्षात् विराजमान रहते इस भेंट को मैं कभी नहीं ले सकता हूँ, इस भेंट को ले जाकर उन्हीं की सेवा में अर्पण करो। किन्तु वह मेरी बात को किसी प्रकार से भी न सुनकर मेरे ही सामने रखकर चला गया। मैंने उसी समय ही हड़बड़ाते हुए उन रुपयों को लेकर गुरुदेव के सामने रख दिया। उन्होंने मानो क्रोध से ही कहा—'अरे! तू कैसा चेला है! गुरु के सामने ही तू भेंट लेने लग गया?' मैंने हाथ जोड़कर कहा—'महाराज जी! इस भेंट को मैं नहीं लेना चाहता था, उससे मैंने बार-बार कहा था कि उस भेंट को वह आपकी सेवा में उपस्थित करे, पर वह किसी प्रकार से भी मेरा कहना न मानकर भेंट को मेरे आगे रखकर चला गया। उस के चले जाने पर तुरन्त ही मैं इसे आपके पास लाया हूँ; मैंने इसे स्वयं नहीं लिया।' मेरी बातों को सुन गुरुदेव मुस्कराकर बोले—'बेटा, तू भी अब सिद्ध हो गया।' फिर मानो स्वगत कहने लगे—'तुम भी अब शेर हो गये, परन्तु दो शेर एक ठौर पर नहीं रह सकते।

इस घटना के दो-तीन दिन बाद गुरुदेव ने मुझसे कहा—'बेटा, द्वारका अपने सम्प्रदाय का मुख्य धाम है, उस धाम का तुम्हारा एक बार दर्शन करके आना अत्यावश्यक है।' मैंने कहा—'बाबा! आप को ही मैं भगवान जानता हूँ, शास्त्र में भी है—गुरु के चरणों में समस्त तीर्थ विराजमान हैं; अतः आपके चरणों के दर्शन से ही मुझे सब तीर्थों के दर्शन होते हैं। इसलिये और किसी तीर्थ के दर्शन

को मेरी इच्छा नहीं है।' गुरुदेव ने कहा—'अरे ! तू बड़ा ज्ञानी हो गया है ! तेरी भाँति ज्ञानी और कोई कभी नहीं हुआ होगा ! तेरे गुरु द्वारका दर्शन को गये, दादा-गुरु गये और तू ऐसा ज्ञानी हो गया है कि तुझे किसी तीर्थ के दर्शन की आवश्यकता नहीं है। ऐसी वुद्धि को त्याग दे। मैं कहता हूँ कि तू द्वारकाधाम के दर्शन कर आ।' मैंने कहा—'महाराज ! मैं नहीं जानता कि द्वारका कहाँ है, मैं कैसे द्वारका जाऊँगा ?' गुरुदेव चुप हो गये, मेरी इन बातों का उन्होंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। पर दूसरे ही दिन दो साधुओं ने गुरुदेव के पास आकर उनको दण्डवत् प्रणाम किया। उनसे गुरुदेव ने पूछा—'तुम कहाँ जाओगे ?' साधुओं ने कहा—'हम द्वारकाधाम के दर्शन को जा रहे हैं।' मैं समीप ही था। तब गुरुदेव ने मुझसे कहा—'ये दोनों साधु द्वारकाधाम जा रहे हैं, इनके साथ तुम भी द्वारकाधाम की यात्रा करो।' तब मुझे विवश होकर द्वारकाधाम को यात्रा करनी पड़ी। मैंने गुरुदेव को साष्टांग दण्डवत् प्रणाम कर उनसे विदा ले उन दोनों साधुओं के साथ द्वारकाधाम के लिये यात्रा की। गुरुदेव ने मुझे आशीर्वाद देकर कहा—'तुम द्वारकाजी के दर्शन कर आओ, मार्ग में तुम्हें कोई कष्ट न होगा, तुमको जिन जिन वस्तुओं की आवश्यकता होगी, वे सभी तुम्हारी चेष्टा के बिना ही तुम्हारे समीप आ जायेंगी।'

वास्तव में मुझे द्वारकाजी की यात्रा में कहीं किसी वस्तु का अभाव या किसी प्रकार की असुविधा नहीं हुई। द्वारका-

धाम में पहुँचकर मैंने द्वारकानाथजी का दर्शन किया। फिर श्री वृन्दावन आश्रम में लौटकर मैं गुरुदेव जिस स्थान में रहते थे उसी स्थान पर उपस्थित हुआ और देखा—मेरे सभी बड़े गुरुभाई वहाँ उपस्थित हैं, सभी का वदन विषण्ण है, पर वहाँ गुरुदेव नहीं हैं। मेरे पूछने पर बड़े गुरुभाईयों ने अतिशय कष्ट के साथ कहा—'तीन दिन गत हुए गुरुदेव ने कलेवर छोड़ दिया है।' इस दारुण संवाद को सुनते ही मेरा शिर घूमने लगा। मैं जानता था कि गुरुदेव भगवान् हैं, ब्रह्मर्षि हैं और जरा-मृत्युरहित हैं। अतः गुरु-भाईयों के दिये हुए संवाद पर मेरा विश्वास नहीं हुआ। मैंने कुछ देर चुप रहकर गुरुभाईयों से कहा—'गुरुदेव सर्वशक्तिमान भगवान् थे, उनकी मृत्यु कैसे हो सकती है? आप लोग मुझसे छलना कर रहे होंगे।' उन लोगों ने कहा—'गुरुदेव ने हम लोगों के सामने ही शरीर छोड़ा है और हम लोगों ने उनके शरीर का अन्तिम सत्कार भी किया है।' यह सुनकर मैं अत्यन्त विकल हो गया और बोला—'हाय, इसीलिये उन्होंने मुझे अपने पास से हटा दिया था? पर वे तो भगवान् हैं, उनकी मृत्यु कैसे सम्भव है? उनके दर्शन न पाने से मैं अपने जीवन को नहीं रखूँगा।' मैं शोक से क्रमशः इतना अभिभूत हुआ कि अपने हाथ से अपने मस्तक की दीर्घ जटाओं को उखाड़ने लग गया। यह देखकर गुरुभाइयों ने दयार्द्र होकर मुझे मुण्डित करा दिया। किन्तु मैं शोक से अभिभूत होकर धरती पर लेटकर उपवास करके कालक्षेप करने लगा। किसी के भी समझाने का कोई प्रभाव मुझपर नहीं पड़ा, केवल निरन्तर रोते-विलपते ही मेरे दिन कटने लगे। अन्त में सातवें

दिन गुरुदेव ने प्रसन्न होकर मुझे दर्शन दिया और मुझे सान्त्वना देते हुए कहा—'बेटा ! तुम शोक मत करो, उठो, तुम्हारा मङ्गल होगा, मेरी मृत्यु नहीं हुई है, तुम शान्त होओ। यह सत्य है कि मेरी मृत्यु हुई नहीं है, किन्तु प्रयोजनवश मैंने आत्मगोपन किया है ; मृत्यु की घटना जो इन सबको दिखलायी है, यह लीलामात्र है। समय समय पर मैं तुम को दर्शन देता रहूँगा। मैं औरों से अलक्षित नर्मदा के तट पर रहता हूँ और रहूँगा। तुम शोक मत करो, उठो, साधुमार्ग में विचरण करो, तुम्हारी सभी कामनायें सफल होंगी।'

इस प्रकार से मुझे प्रबोधित कर गुरुदेव अन्तर्हित हो गये। उनके दर्शन और प्रबोधवाक्य से मेरा चित्त शान्त हुआ। मैं उठा और स्नान करके मैंने भोजन किया। मेरे बड़े गुरुभाइयों ने यथाविधि गुरुदेव का भण्डारा किया और करके वे अपने-अपने स्थान को पधारे। गुरुदेव समय-समय पर आविर्भूत हो मुझे दर्शन देते हुए अपने वाक्य को सत्य करने लगे।"

—●—

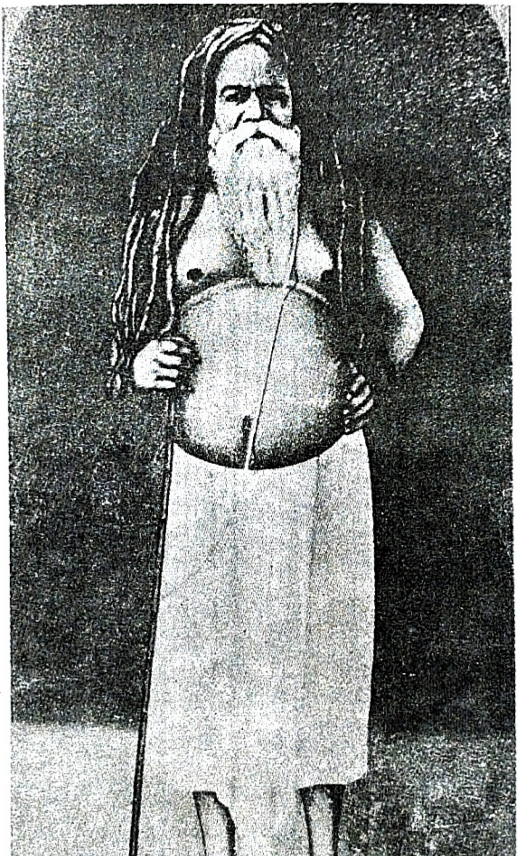

व्रजविदेही महन्त तथा चतु:सम्प्रदाय श्रीमहन्त
श्री १०८ श्री स्वामी सन्तदास बाबाजी महाराज

तृतीय अध्याय

श्रीरामदासजी की तपस्या, सिद्धिलाभ, भगवद्दर्शन

गुरुजी के देहान्त के पश्चात् श्रीरामदासजी ने बहुत कठोर तपस्या की थी। ग्रीष्मकाल में प्रचण्ड उत्ताप से लू चलती थी उस समय वे पंचाग्नि के अन्दर बैठकर योग-साधन में निमग्न रहते थे।

इस पञ्चाग्नि-साधन के समय की एक अलौकिक घटना का उल्लेख यहाँ करता हूँ—

श्रीरामदासजी एक दिन एक गाँव में पञ्चाग्नि तापने लगे। गाँव के लोग उन पर बड़ी श्रद्धा-भक्ति करने लगे। उनके साथ एक और साधु था। वह श्रीरामदासजी से इतनी ईर्ष्या करने लगा कि उनको वध करने का संकल्प उसने किया। एक दिन श्रीरामदासजी जब पञ्चाग्नि के बीच योगासन में बैठकर तन्मय थे, उस समय उस साधु ने उनके चारों ओर लगभग एक सहस्र कण्डों को इस प्रकार से सजा दिया कि कण्डों के घेरे ने उनके शिर से भी ऊँचा होकर उनको बिलकुल अलक्षित कर दिया। फिर उस साधु ने उन कण्डों में आग लगा दी। जब अग्नि प्रज्वलित हुई तब चारों ओर कण्डों की अग्नि एक ही लौ से धधकने लगी। उस समय

वह साधु भाग गया। गाँव के लोगों ने वहाँ आकर धधकती हुई अग्नि की उग्रज्वाला को देखकर सोचा कि अग्नि ने श्रीरामदास जी को अवश्य ही भस्म कर दिया होगा। जब समस्त कण्डे जल गये, अग्निज्वाला निर्वापित हुई और उनका भी ध्यानभङ्ग हुआ तब देखा गया कि उनके शरीर पर अग्निदेव का कुछ भी प्रभाव न पड़ा था। ध्यानभङ्ग होने पर कण्डों के भस्म की उस ढेर के बीच से वे निकल आये। गाँव के लोग यह देखकर अत्यन्त विस्मित हुए और धन्य-धन्य कहने लगे। श्रीरामदासजी ने गाँव के सरदार से कहा—'अब से मैं नित्य हजार कण्डों के बीच बैठकर धूनी तापूँगा। तुमको प्रतिदिन मेरे लिए हजार कण्डों का प्रबन्ध करना पड़ेगा।' सरदार बोला—'महाराज! प्रतिदिन इतने कण्डे मैं कैसे ला सकूँगा?' उन्होंने कहा – 'इतने कण्डे तुमने आज कैसे दिये थे? क्या मुझे भस्मीभूत करने की तुम्हारी इच्छा थी? देखो, इतने कण्डों की अग्नि के बीच में भी मैं अखण्ड रह गया। अग्निदेव ने कृपा करके मेरे एक रोंया तक को भी नहीं जलाया।' सरदार ने कहा—'महाराज! आप के सङ्ग के उस साधु ने हम लोगों से माँग कर इतने कण्डे इकट्ठे किये थे। हम नहीं जानते थे कि वह सब कण्डों को ईर्ष्यावश आपको मार डालने के लिये एक संग जलायेगा। इस समय न तो वही यहाँ दिखाई देता है और न उसका सामान ही। आप आज्ञा दीजिये, हम उसे अभी ढूँढ़कर लावें और उसको उपयुक्त दण्ड देने का प्रबन्ध करें।' श्रीरामदास जी ने कहा—'न, न, तुमको कुछ भी न करना पड़ेगा, वह अपने आप दण्ड पावेगा।' इसके दो दिन पश्चात् पुलिस उसको किसी

और अभियोग में पकड़ ले गई और उसे छः महीने के कारावास का दण्ड मिला।*

श्री रामदासजी जिस प्रकार ग्रीष्मकाल में पञ्चाग्नि तापते थे उसी प्रकार शीतकाल में जल-शय्या में अवस्थित रहते थे। वे ब्राह्म-मुहूर्त्त में ही जल में योगासन लगाकर ध्यान में मग्न हो जाते थे और लगभग छः दण्ड दिन चढ़ने पर उनके सेवक साधुलोग उनको जल से उठा लाते थे और उनके शरीर में अग्नि का ताप देने पर उनमें वाह्य-चेतना का संचार होता था। इस प्रकार वे उन्होंने अनेकानेक कठोर तपस्यायें की थीं। उन्होंने भारत के सब तीर्थों में विचरण किया था। मानस-सरोवर से कन्याकुमारी तक सभी तीर्थों का पुनः पुनः दर्शन पैदल चलकर किया था।

तीर्थों में भ्रमण के समय श्रीरामदासजी को कई बार बड़े-बड़े वनों में होकर जाना पड़ा था। हिंस्र जन्तुओं ने अनेकों बार उनको देखा लेकिन कभी उन पर आक्रमण नहीं किया। एक बार वे दूसरे कई साधुओं के साथ एक हिंस्र जन्तु-संकुल वन में होकर जा रहे थे; वे और साधुओं के पीछे थे। सब से आगे जो साधुजी जा रहे थे वे हिंसक जन्तुओं का गर्जन सुनकर बोले—मैं

* यह पूछने पर कि अग्नि ने शरीर को क्यों नहीं जलाया, श्रीरामदासजी ने कहा—"धूनी तापने के लिये बैठने से पहले ही आत्मरक्षा के मन्त्र से अग्नि के ताप को रोक देना होता है, जिससे अग्नि से शरीर की रक्षा हो। जिनका शरीर अग्नि से झुलस जाता है वे मन्त्र न जाननेवाले कुयोगी हैं, मन्त्रवित् नहीं हैं।"

सबसे आगे न जा सकूँगा, मैं बहुत डर रहा हूँ।' यह सुनकर श्री रामदासजी ने कहा—'मैं सब से आगे हो लेता हूँ, तुम चाहो तो पीछे आ सकते हो।' तब वे साधुजी पीछे हो लिये और श्रीरामदासजी सब से आगे होकर चलने लगे। किन्तु थोड़ी ही देर में एक वृहत्काय व्याघ्र आकर पीछे चलने वाले साधुजी पर झपटा और उनको लेकर प्रस्थान कर गया और सब महात्मा निर्विघ्न वन को पार कर एक बस्ती में जा पहुँचे।

भारत के उत्तराखंड के अनेकानेक वनों में भी उन्होंने विचरण किया था। उन्होंने उस समय की दो घटनाएँ इस प्रकार बताई थीं—"एक बार भगवान् ने छल से साधु का वेश धरकर उत्तराखण्ड में मेरे साथ लगभग एक मास निवास किया था। वे खाते-पीते कुछ भी नहीं थे। अंत में एक दिन वे मुझ से बोले—'चलो, मेरे साथ सैर करने को चलो।' मैं उनके साथ चल दिया। दोनों एक नदी के ऊपर बने हुए पुल के ऊपर से जाने लगे, उन साधु-रूपी भगवान् ने आकाश की ओर उँगली उठाकर कहा—'देखो, उधर क्या है।' मैंने कहा—'उधर निर्मल आकाश है।' फिर नीचे की ओर नदी के जल को उँगली से दिखाकर उन्होंने कहा—'देखो उधर क्या है।' मैंने कहा—'उधर जल है।' उन्होंने फिर आकाश की ओर उँगली से दिखाकर कहा—'अब देखो ऊपर क्या है।' मैंने ऊपर की ओर ताककर देखा कि बड़ी ही काली घटा आकाश मण्डल में उमड़ी हुई है। यह देख मैंने कहा—'यह तो भोजविद्या का सा कर्म दिखाई देता है, यह एक प्रकार के जादू के अतिरिक्त

और कुछ नहीं है।' वे साधु-रूपी भगवान् और कुछ न कहकर आगे बढ़ने लगे, तो मैं भी उनके साथ चलने लगा। वे मुझे पीछे-पीछे चलने को संकेत करके पुल के नीचे नदी में उतरे तो मैं भी उनके साथ नदी में उतरा। किन्तु यह एक बड़े भारी आश्चर्य की बात देखने में आई कि वहाँ उस नदी के बहुत गहरी होने पर भी हम दोनों पदव्रज नदी पार हुए और घुटनों के ऊपर जल नहीं पहुँचा। हम दोनों चुपचाप नदी पार होकर एक जङ्गल से होकर जा रहे थे। वहाँ मैंने देखा कि पगडण्डी के दोनों ओर कहीं श्मशान में चिताएँ जल रही हैं, कहीं शवसमूह पड़े हैं, कहीं कटे हुए मुण्ड ही मुण्ड पड़े हैं। ऐसे नाना प्रकार के भीषण दृश्य देखते हुए कुछ दूर चलकर मैंने देखा कि वे साधु-रूपी भगवान् वहाँ नहीं हैं। बहुत ढूँढ़ने पर भी मुझको उनका फिर पता नहीं मिला। मैं वहाँ से लौटने लगा; किन्तु पहले की देखी हुई चिताएँ, शवादि कुछ भी मुझको दिखलाई नहीं दिये। उन स्थानों पर केवल वन-जात नाना प्रकार के वृक्ष, लतादि दिखलाई दिये। तब मैं निश्चित रूप से जान गया कि स्वयं भगवान् ने साधु का वेश धारण कर मुझ को प्रतारित किया।

(२) एक बार मैंने हरिद्वार के निकटस्थ चण्डी-पहाड़ के समीप के एक पहाड़ से उतरते समय पगडण्डी को छोड़कर चलते चलते एक निर्जन-स्थल में एक ऐसे साधु के दर्शन किये जो तीन सौ वर्ष के थे। उन साधुजी ने मुझ को खाने के लिये फलमूलादि देकर मेरा बड़ा आदर किया था और मुझ से यह कह दिया था कि मैं

और किसी को उनका संवाद न दूँ। पर उस निषेध को न मानकर मैंने हरिद्वार लौटकर अपनी जमात के दूसरे साधुओं के पास उस घटना का वर्णन किया और उन साधुओं के कौतूहल की निवृत्ति के लिये उनको संग में लेकर वहाँ गया। किन्तु वहाँ जाकर देखा कि न तो वे साधुजी ही हैं और न उनके रहने की वह गुफा ही। विफल-मनोरथ होकर वहाँ से लौटना पड़ा।"

इस प्रकार तीर्थ-भ्रमण तथा उत्तराखण्डादि भ्रमण करके वे अन्त में ब्रजधाम में ही स्थायीरूप से विराजने लगे। वे कहते थे कि सब स्थानों की अपेक्षा ब्रजमण्डल ही उनको अधिक प्रिय लगा और साधुओं के रहने के योग्य ऐसा और कोई स्थान उनको प्रतीत नहीं हुआ। उन्होंने यह भी कहा था कि उत्तराखण्ड भी तपस्या के लिये स्थान अवश्य है, पर वहाँ कन्दमूल ही खाकर निर्वाह करना पड़ता है और वर्षा-काल में यह अन्वेषण कर रखना पड़ता है कि वे कहाँ अङ्कुरित हुए हैं। इस प्रकार आहार की चेष्टा वहाँ भी करनी पड़ती है। "मैंने विचार किया कि ब्रजधाम ही सब से अच्छा है, जहाँ आहार-संग्रह करने की चेष्टा नहीं करनी पड़ती है। यहाँ साधुओं के योग्य खाद्य-वस्तुएँ सदा मिल जाती हैं, अतएव ब्रज में ही रहने का मैंने निश्चय किया।"

भरतपुर में सेलानि का कुण्ड नामक एक कुण्ड है। ब्रजधाम में आकर स्थायीरूप से बसने से पहले उसी कुण्ड के समीप एक स्थान पर श्रीरामदासजी ने कुछ दिन अवस्थान किया था। सुना

है कि वहाँ उन्हें भगवद्दर्शन लाभ हुआ था और वे पूर्णरूप से सिद्ध-मनोरथ हुए थे। इसके सम्बन्ध में यह कहावत प्रसिद्ध है :—

रामदास को राम मिला, सैलानि का कुण्डा।
सन्तन तो सच्ची माने, झूँठी माने गुण्डा॥

उन्होंने भरतपुर में पहले पहल चेले बनाना प्रारम्भ किया। वहाँ के एक सद्वंशजात और अत्यन्त निष्ठावान् ब्राह्मण ने सबसे पहले अपने पुत्र को लाकर श्रीरामदासजी का चेला बनवाया था जो गरीबदास के नाम से प्रसिद्ध हुए। उन्होंने बाल्यावस्था से देहान्त तक श्रीरामदासजी के साथ रहकर बड़े यत्न और निष्ठा से उनकी सेवा करके सिद्धिलाभ किया। उनका चरित्र ऐसा निर्मल था और वे ऐसे त्यागी तथा प्रेमी थे कि साधु मात्र ही उनपर श्रद्धान्वित रहते थे और उनके विनम्र स्वभाव, धैर्यगुण, गुरु की सेवा में सर्वप्रकार कष्ट-सहिष्णुता और सर्व-प्रति दया आदि गुणों की एक वाणी से प्रशंसा करते थे। उनका मुखमण्डल ऐसा प्रशान्त था कि उनको देखने से ही मालूम होता था कि वे एक असाधारण पुरुष हैं और मानो वे शान्ति के सागर हैं। उनको देखने से ही चित्त प्रशान्त होता था।

इनके पश्चात् श्रीरामदासजी के श्रीभगवानदासजी, श्रीठाकुरदासजी और श्रीनरोत्तमदासजी ये तीन और साधु-शिष्य हुए थे।

श्रीभगवानदासजी कुछ दिन गुरुजी की सेवा करने के पश्चात् साधन भजन करके अन्त में बम्बई के बहुत ही निकट एक स्थान में महन्त होकर रहते थे। बहुत दिन हो गये उनका देहान्त हो गया है

श्रीठाकुरदासजी बड़े ही विद्वान् थे और तीव्र वैराग्य के कारण परमहंस-वृत्ति अवलम्बन करके उत्तराखण्ड में चले गये थे। तब से उनका कोई संवाद और नहीं मिला।

भरतपुर के एक और निष्ठावान् तपस्वी ब्राह्मण ने अपने पुत्र को श्रीरामदासजी के चरणों में अर्पण कर दिया था। उन्होंने उनके पुत्र को साधु-चेला बनाया और उनका नाम "नरोत्तम दास" रखा। श्रीनरोत्तमदासजी एक दिन कुएँ से जल लाने गये, जल उठाने के समय गुरुजी का कमण्डलु कुएँ में गिर पड़ा, जिससे ताड़ना के भय से वे भाग गये, और उसके पश्चात् उन्होंने अपने आप साधन-भजन करके प्रतिष्ठा लाभ की। उनके साथ अनेक साधु रहते थे और वे बड़ी भारी जमात लेकर सदैव विचरण करते थे और महन्तोचित सम्मान पाते थे। उनका भी देहान्त हो गया है।

उपर्युक्त श्रीनरोत्तमदासजी से श्रीताराकिशोरजी ने पूछा था— "क्या आपने अपनी बाल्यावस्था में गुरुजी (श्रीरामदासजी) को किसी प्रकार का साधन करते देखा था?" उन्होंने कहा था—"उस समय वे सिद्ध हो चुके थे, उनके साधन की स्थिति मैंने नहीं देखी। अपनी बाल्यावस्था में उनकी सेवा में रहते समय मैं उनको केवल एक ही क्रिया करते कभी-कभी देखता था। महीने में एक या दो बार किसी दिन गरीबदासजी को और किसी दिन मुझको साथ लेकर वे किसी न किसी जंगल में जाते थे। उस समय मेरे पास एक बड़ा सा गिलास रहता था। उस गिलास को उत्तम जल से भर कर लाने

को वे हम लोगों से कहते थे। उस गिलास में करीब आधा सेर जल आता था। उस जल को वे लिङ्गेन्द्रिय से सब खींच लेते थे और कुछ समय पश्चात् पेशाब करने की रीति से उसे फिर गिलास में निकाल देते थे। उन्होंने पहले से जो आज्ञा दे रक्खी थी, उस के अनुसार मैं रूई की ऐसी बत्ती बनाकर वहाँ ले जाता था जैसी आरती के समय लगती है। खींचे लिये हुए जल को गिलास में पेशाब करने की रीति से छोड़कर गुरुजी कहते थे—'बत्ती को जलाकर इस जल में रक्खो और देखो कि बिना बाधा के बत्ती जलती रहती है कि नहीं।' उनकी आज्ञा से मैं वैसा ही करता था। घी से भरे हुए गिलास में रखने से जैसे बत्ती निःशब्द जलती है, ठीक ऐसे ही बिना रुकावट के वह बत्ती उनके लिङ्गनिर्मुक्त उस जल में जलती रहती थी। बत्ती का स्थिर-भाव से जलना अपनी आँखों से देखकर वे आसन पर लौटते थे। उनकी एक यही क्रिया मैंने देखी है। इसको छोड़ उनकी और कोई भी क्रिया मैंने नहीं देखी।"

सिद्धिलाभ के पश्चात् समय-समय पर श्रीरामदासजी का अलौकिक योगैश्वर्य प्रकाशित होता था। श्रीताराकिशोरजी ने श्रीरामदासजी की जीवनी में उनके योगैश्वर्य की अनेक घटनाएँ लिखी हैं। उन घटनाओं में से कुछ घटनायें मैं क्रमशः वर्णन कर रहा हूँ:—

सिपाही-विद्रोह (ग़दर) के समय एक बार यमुनाजी के किनारे के एक पथ से श्रीरामदासजी आगरा जा रहे थे। उन दिनों यमुना

जी में गोरों का एक जहाज था। उस जहाज पर से उनको यमुनाजी के किनारे देखकर उनकी ओर एक गोरे ने बन्दूक तान गोली चलायी। गोली श्रीरामदासजी के गण्ड के निकट होकर निकल गयी। गोरे ने फिर गोली चलायी, जो उनके गण्ड की दूसरी ओर से निकल गई। गोरे ने फिर भी गोली चलाने के लिये बन्दूक उठाई, तब श्रीरामदासजी ने मन ही मन कहा—'यह तो छोड़ेगा नहीं देखता हूँ।' यह कहकर उन्होंने आँखें मूँद लीं। किन्तु तत्काल ही बन्दूक गोरे के हाथ से छूटकर यमुनाजी में गिर पड़ी। तब सब गोरे विस्मित होकर मेमों के साथ उनके समीप आकर सिर से टोपें उतार-उतार कर सलाम करने लगे। उन लोगों ने फिर श्रीरामदासजी महाराज के साथ कोई अनिष्ट-आचरण नहीं किया।

श्रीरामदासजी एक बार विचरते हुए हाथरस पधारे। वहाँ के एक बड़े जमींदार के कोई पुत्र न था। जमींदार ने बड़े यत्न से उनकी सेवा की और अन्त में विनती की—"महाराज! मेरे पुत्र नहीं होता है; आप ऐसी कृपा करें कि मेरे पुत्र हो।" श्रीरामदासजी ने कहा—"अच्छा, तुम वृन्दावन में मेरे लिए एक ठाकुरजी का मन्दिर बनवा देने का वचन दो तो तुम्हारा पुत्र होगा।" जमींदार ने कहा—"मेरा पुत्र हो तो मैं अवश्य ही वृन्दावन में मन्दिर बनवा दूँगा।"

श्रीरामदासजी ने कहा—"आज से वर्ष भर के अन्दर तुम्हारा पुत्र होगा, पर यदि मन्दिर न बनवा दोगे तो तुम्हारा पुत्र न

रहेगा। मैं एक वर्ष के पश्चात् फिर तुम्हारे यहाँ आऊँगा।" तत्पश्चात् उस जमींदार की स्त्री गर्भवती हुई और नियमित समय पर उसके पुत्र उत्पन्न हुआ। वर्ष बीतने पर श्रीरामदासजी फिर जमींदार के यहाँ पधारे। उसने उनका सत्कार किया और पुत्र-लाभ का आनन्द भी प्रकट किया, पर वह बृन्दावन में मन्दिर बनवाने को प्रस्तुत नहीं हुआ। उसने कहा—"मेरा यह बड़ा भारी उद्यान है। इसीमें मैं मन्दिर बनवा दूँगा, आप यहीं निवास करें।" यह सुनकर श्रीरामदासजी महाराज ने कहा—"तूने बृन्दावन में मन्दिर बनवा देने का वचन दिया था, पर पुत्र पाने से गर्वित होकर तूने अपनी प्रतिज्ञा का उल्लङ्घन किया है। इसलिये आज से तीसरे दिन तेरा पुत्र मर जायेगा।" यह कहकर उन्होंने उस जमींदार के स्थान से थोड़ी दूर चलकर अपना आसन स्थापित किया। वास्तव में तीसरे ही दिन उस जमींदार का पुत्र मर गया, जिससे उसकी स्त्री शोक के मारे रोती हुई अन्तःपुर से निकलकर श्रीरामदासजी महाराज के आसन के समीप उपस्थित हुई और उनके चरणों के आगे धरती पर लोटती हुई रो-रोकर कहने लगी—"महाराज! मेरे स्वामी के अपराध को क्षमा कीजिये। मैं पुत्रहीना थी, आप ही की कृपा से मेरा पुत्र हुआ था, पर मेरे स्वामी ने कुबुद्धि के कारण आपकी अवज्ञा की है, जिससे मेरा बेटा मर गया, परन्तु मैंने कोई अपराध नहीं किया है, मुझ पर आप कृपा करें। आप मुझे जो कुछ आज्ञा देंगे वही मैं करूँगी।" इस प्रकार आर्त्तनाद करते रहने से श्रीरामदासजी

दयार्द्र होकर बोले—"अच्छा, तेरा एक पुत्र मरा है, मेरे वाक्य से फिर तेरे दो पुत्र होंगे और जीवित रहेंगे। मैं तुम लोगों से कुछ भी नहीं चाहता, पर साधु को वचन देकर फिर कभी उसका उल्लङ्घन नहीं करना।"

तदनन्तर श्रीरामदासजी वृन्दावन लौटकर पहले केमारवन के दावानल-कुण्ड आश्रम में कुछ दिन रहे। उन दिनों अनेक साधु उस आश्रम में रहते थे। श्रीरामदासजी वहाँ रहकर बड़े-बड़े बरतनों को मलते और साधुओं की सेवा के लिये तीन-चार मन लकड़ी वन से काटकर सिर पर लाते थे। इस प्रकार से वहाँ कुछ दिन रहकर फिर वे यमुनाजी के तीर पर श्रीगङ्गाजी की कुञ्ज की गली के सामने वाले घाट पर एक वृक्ष के नीचे अपना आसन लगाकर रहने लगे और श्रीगरीबदासजी उनके साथ रहकर सदा उनकी सेवा करने लगे।

उस घाट पर बहुसंख्यक स्त्री-पुरुष नित्य आकर नहाते थे। कुछ ब्रजवासियों ने विचारा कि इस घाट पर बहुत स्त्रियाँ सदा आती हैं और यह साधु यहीं रहते हैं, इनकी परीक्षा करके देखना चाहिये कि यह कैसे साधु हैं। इस विचार से एक दिन गम्भीर अन्धकारमयी अर्द्धरात्रि के समय जब सब लोग सो गये, तब उन लोगों ने एक युवती को उनके समीप भेजा। श्रीरामदासजी अपने आसन पर लेटे हुए थे। ऐसे समय में वह युवती धीरे-धीरे उनके आसन पर जाकर लेट गई और उनसे लिपट गई। श्रीगरीबदासजी लगभग बीस हाथ की दूरी पर अपने

आसन पर सोते थे। वह युवती जब उनसे लिपटी तब उन्होंने गरीबदास को बुलाकर कहा—"गरीबदास! यहाँ आ जा, दीया जलाकर देख, मेरे आसन पर कौन आ गया है।" गरीबदासजी ने उठकर दीया जलाया तो उस युवती को अपने आसन पर देखकर उन्होंने कहा—"तू कौन है? ऐसे समय में तू मेरे आसन पर क्यों आयी है?" उस युवती ने कहा—"महाराज! मैं काम से बड़ी विवश हुई हूँ, जिससे तुम्हारे समीप आयी हूँ, मैं विधवा हूँ, मेरा कोई नहीं है।" उन्होंने कहा—"तेरा काम हुआ है तो किसी गृहस्थ के पास चली जा, यहाँ गृहस्थ बहुत हैं।" युवती बोली—"महाराज! तुम पर मेरा मन बहुत लगा है, तुमको जबसे मैंने देखा है तबसे तुम पर मेरा मन बहुत चलने लगा है। तुमही मुझपर कृपा करो।" इस पर क्रुद्ध होकर उन्होंने कहा—"गरीबदास! तू यहाँ से जरा हट जा, मैं इस राँड़ को साधु की कुछ करामात दिखा दूँ। यह साधु का सत्त्व खींच लेना चाहती है। मैं इसको दिखा दूँगा, साधु के साथ रमण कैसा होता है। घण्टे भर के बीच में इसकी जान खींच लूँगा, तब इसको मालूम पड़ेगा कि साधु की सामर्थ्य कैसी होती है।" यह कहकर उन्होंने उस युवती से कहा—"अब आ जा तू मेरे पास।" वह युवती बहुत डरी और थर-थर काँपती हुई बोली—"महाराज! मुझे क्षमा कीजिये, मेरा कोई दोष नहीं है। ब्रजवासियों ने आपकी परीक्षा के लिये मुझे आपके पास भेजा है, इसलिये मैं आपके यहाँ आई हूँ, मुझे क्षमा कीजिये।" यह सुनकर उन्होंने कहा—"अच्छा, चली जा, और कभी साधु

के पास इस तरह नहीं जाना। सब साधु बराबर नहीं होते, कोई कोई योगिराज भी हैं।"

अन्य एक दिन सायङ्काल के पश्चात् श्रीरामदासजी अकेले उस घाट पर अपने आसन पर बैठे थे। ऐसे समय में रूप-सम्पन्ना दो पञ्जाबी युवतियों ने आकर उनको प्रणाम किया और कुछ भेंट आगे रखकर हाव-भाव और कटाक्ष के साथ वार्त्तालाप करना आरम्भ किया। कुछ समय यों ही बिताकर उनमें से एक अचानक उनकी इन्द्रिय पकड़कर खींचने लगी। उन्होंने कहा—"ले साली··· पकड़ लिया तो ले!! इसमें क्या है? मैं तो इसमें कुछ नहीं देखता, तेरी जितनी मरज़ी हो तू इसको अच्छी तरह से देख ले।" उन दोनों ने उनकी इन्द्रिय को नाना प्रकार से उत्तेजित करने को चेष्टा की, परन्तु किसी प्रकार भी वे सफल मनोरथ न हुईं। तब वे युवतियाँ लज्जित होकर वहाँ से चली गईं।

इसके दूसरे दिन बृन्दावन के गौतम ब्राह्मण छन्नूसिंहजी (जो बड़े भारी पहलवान थे और सर्वदा श्रीरामदासजी के यहाँ आकर गाँजा पीते और गप-शप करते थे) आकर श्रीरामदासजी से बातें करने लगे। श्रीरामदासजी भी बड़े बलवान् पुरुष थे और ब्रजवासियों से सखाभाव रखते थे, जिससे उनके साथ बराबरी का मेलजोल रखते हुए समवयस्क मित्रों के समान हँसी-ठट्टा आदि करते थे। उस दिन छन्नूसिंह ने वार्त्तालाप करते-करते कहा—"बाबाजी! तुम्हारी पहलवानी और शक्ति जान ली गयी। तुम जब 'नामर्द' हो तो तुम्हारी पहलवानी कैसी? यह सुनकर

श्रीरामदासजी ने पिछले दिन की बात स्मरण कर इस वाक्य का अभिप्राय समझ लिया और कहा—"अरे! तूने मुझे 'नामर्द' कैसे जाना? देख ले तेरे······से मेरा······ कितना···है। तेरा कभी इतना······न होगा।" यह कहकर उसी समय बृहत्···निकालकर उसको लोहे के मेख की भाँति कर दिखलाया, जिससे छन्नूसिंहजी का भ्रम मिटा और वे दण्डवत् प्रणाम करके बोले—'बाबाजी! तुम यथार्थ कामजित् पुरुष हो। जब युवती भी तुम में काम-सञ्चार न कर सकी, तब हमलोगों ने समझा था कि तुम अवश्य पुरुषत्वहीन होगे। पर आज मुझे तुम्हारे प्रभाव का परिचय मिला, तुम साक्षात् महेश्वर हो।"

एक दिन छन्नूसिंहजी श्रीरामदासजी के पास बैठकर बातें कर रहे थे कि इतने में श्रीबृन्दावन का एक नामी चोर आकर श्रीरामदासजी को दण्डवत् प्रणाम करके गाँजा पीने के लिये उनके पास बैठा। उसका नाम गोसायाँ था। श्रीबृन्दावन के ब्राह्मण-कुल में उसका जन्म हुआ था, पर वह डाकुओं का सरदार था और नाना प्रकार के उद्दण्ड काम सदैव किया करता था। उसे कोई पकड़ नहीं पाता था। अंत में एक अँग्रेज अफसर ने गोरों की पलटन साथ लेकर एक जंगल को चारों ओर से घेरकर उसे पकड़ा था और उसको कारादण्ड देकर १४ वर्ष के लिये द्वीपान्तर में भेजा था। चौदह वर्ष कारावास भोगकर वह श्रीबृन्दावन लौट आया था; किन्तु १४ वर्ष के कठिन कारावास को भोगने पर भी उसका चरित्र तनिक भी नहीं सुधरा था।

उसके अत्याचार से सब लोग भयभीत रहते थे। वह गाँजा पीने के लिये श्रीरामदास जी के समीप जब आ बैठा तब छन्नूसिंहजी ने उनसे कहा—"बाबाजी महाराज! आप इस चोर को सुधार दीजिये। ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने पर भी इसके समान उद्दण्ड डाकू श्रीवृन्दावन भर में नहीं है। इसके अत्याचार से सब मुहल्ले-वाले सर्वदा भयभीत रहते हैं। चौदह वर्ष के कठोर कारावास से भी इसमें कुछ संशोधन नहीं हुआ है। आप सिद्ध महात्मा पुरुष हैं, आप इसको सुधारकर लोगों को भय से बचाइये।" यह सुनकर श्रीरामदासजी ने गोसायाँ से कहा—"क्यों गोसायाँ तू साधु बनेगा? चौर्यवृत्ति को छोड़कर तू मेरा चेला होगा?" इन वाक्यों ने गोसायाँ के हृदय पर विद्युत्-प्रवाह के समान प्रभाव डाला। कुछ समय चुप रहकर बहुत ही आर्त्तस्वर से गोसायाँ ने कहा—"महाराज! मैंने इतने कुकर्म किये हैं जो कोई मनुष्य नहीं कर सकता, इस पर भी क्या आप मुझे अपना चेला बनायेंगे?" श्रीरामदासजी ने मुस्कराकर कहा—"हाँ, मैं तुझे चेला बनाऊंगा, तू अभी जाकर बाजार से तुलसी की कण्ठी ले आ। कण्ठी को तेरे गले में बाँधकर आज ही मैं तुम को चेला बना लूँगा।" गोसायाँ तत्काल ही बाजार में जाकर कण्ठी लाया, श्रीरामदासजी ने भी शङ्ख बजाकर उसके गले में कण्ठी बाँधकर उसको दीक्षा दी। तब से गोसायाँ की आकृति परिवर्त्तित हो गई। चोरी करने और लोगों पर अत्याचार करने की प्रवृत्ति दूर हो गयी और वह एक अति प्रेमिक-प्रकृति का दयार्द्र चित्त साधु

बन गया। उसने यमुनाजी के तट पर श्रीवृन्दावन के एक एकान्त उपवन में अपना निवास-स्थान बनाया और वहीं रहकर वह सारे दिन भजन करने लगा। केवल सन्ध्या के पश्चात् वह एक बार शहर में जाकर किसी न किसी दुकान के पास खड़ा होता था, दुकानदार भी स्वतः, चाहे पहले के भय से हो या और किसी कारण से हो, उसको भोजन के लिये दूध, पूड़ी आदि प्रतिदिन देता था। कभी-कभी साधुओं की जमात में जाने पर आमोद करने के लिये या उसकी पूर्वप्रवृत्तिवश हो वह एक का लोटा दूसरे के यहाँ और दूसरे का तीसरे के यहाँ छिपाकर रख देता था। सब लोग जानते थे कि यह सब काम गोसायाँ का ही है और इसलिये "चोर गोसायाँ" कहकर उसकी हँसी उड़ाते थे। गोसायाँ भी हंसी-मजाक में बातों को टाल देकर अपनी पूर्व चौर्यवृत्ति और चौदह वर्ष कारा-वास सम्बन्धी स्वरचित सुदीर्घ गीत गाकर सब लोगों को आनन्दित करता था। इस प्रकार से महापाषण्ड चोर भी श्रीरामदासजी की कृपा से प्रेमी साधु बन गया।

श्रीरामदासजी की आवश्यकीय सभी वस्तुएँ बिना माँगे ला लाकर लोग पहुँचा देते थे। दो-तीन रुपये के गाँजे और चरस की भेंट नित्य आ जाती थी और इसी भाँति खाने की सभी सामग्रियाँ भी आती थीं। इस वैभव को देखकर चोरों ने विचारा कि उन्होंने बहुत रुपये बटोरकर रख लिये होंगे, इसलिये रात्रि में आकर वे कभी-कभी उत्पात मचाने लगे। रात्रि के चोर दिन में सज्जन बनकर फिरते थे। चोरों में कोई ब्राह्मण, कोई क्षत्रिय तथा कोई

अन्य जाति के थे। उनमें से भी कोई-कोई दिन में उनके पास आ बैठते और तमाखू, गाँजा पीते तथा गप-शप करते थे। एक दिन सबेरे ऐसे ही तीन भद्रवंशोद्भव बृन्दावनवासी चोरों ने उनके पास बैठकर बातें करते-करते किसी बात से उत्तेजित होकर उनसे कहा—"बाबाजी! सिंह की भाँति निर्भय होकर बातें करते हो, इसका फल एकदिन रात को भलीभाँति पा जाओगे।" तब श्रीरामदासजी ने कहा—"मैं अच्छी तरह से जानता हूँ कि तुम लोग चोट्टे-बदमाश हो, पर तुम अब इतने बढ़चढ़ रहे हो कि साधु को भी धमकाने लग गये हो। अच्छा, मैं कह देता हूँ कि तुम आज ही पुलिस से पकड़े जाओगे।" चोरों ने कहा—"अरे, रहने दे बाबाजी तेरी सिद्धाई; हमलोगों को पकड़नेवाला कोई नहीं है।" यह कहकर अवज्ञा-पूर्वक वे वहाँ से चले गये। किन्तु इसके पश्चात् थोड़ी ही देर में पुलिस ने किसी चोरी के अपराध में उन तीनों को पकड़कर उसी दिन ही अदालत के सामने उपस्थित किया। तीनों ज़मानत पर छूटे और मुकद्दमे की तारीख़ नियत हुई। उनमें से दो अदालत से छूटते ही श्रीरामदासजी के निकट आये और हाथ जोड़ उनके चरणों पर गिरकर बोले—"महाराज! हम आपके बच्चे हैं, हम पर आप कृपा कर हमारे अपराध को क्षमा कीजिये। हमें पुलिस पकड़कर अदालत में ले गयी थी; वहाँ से हम ज़मानत पर छूटकर आपके पास चले आ रहे हैं। अब यदि हम पर आपकी कृपा न होगी तो हमको दण्ड मिलेगा। आप हमारा अपराध क्षमा कीजिये, हम फिर कभी ऐसा अपराध नहीं करेंगे।" तब उन्होंने कहा—"तुम यह

प्रतिज्ञा करो कि तुम फिर कभी साधुओं को उद्विग्न न करोगे और चोरी भी न करोगे।" वे बोले—"नहीं, कभी न करेंगे।" तब श्रीरामदासजी ने प्रसन्न होकर कहा—"अच्छा जाओ, तुम दोनों छूट जाओगे।" वे दोनों दण्डवत् प्रणाम करके चले गये। मुकदमे की तरीख पर वे दोनों छूट गये, पर तीसरे को चार मास के कारावास का दण्ड हुआ। उसने अपील की जो निष्फल हुई। उसको लोहे की बेड़ी पहनाकर मथुरा से बृन्दावन को जो सड़क जाती है उसकी मरम्मत के लिये मिट्टी खोदने के काम में लगाया गया।

एकदिन श्रीरामदासजी ने सड़क से होकर मथुरा से बृन्दावन आते समय मार्ग में उस चोर ब्राह्मण को मिट्टी खोदते हुए देखा। उसने भी उनको देखकर सड़क ही पर दण्डवत् प्रणाम किया और रोते हुए कहा—"महाराज! इस बार तो मैं निर्दोष था, तथापि आपके अभिशाप से ही मैं यह कष्ट भोग रहा हूँ। हम ब्रजवासी आपके अबोध बच्चे हैं। मुझे इतना कठिन दण्ड देना क्या आपको उचित था?" उसके क्लेश को देखकर और उसकी कातरोक्ति से दयार्द्र होकर उन्होंने कहा—"अच्छा, फिर कभी साधुओं को कष्ट न देना। आज से तीसरे दिन तू कारावास से मुक्त हो जायेगा।" वह बोला—"महाराज! यह कैसे होगा? मेरी अपील तक नहीं सुनी गयी।" उन्होंने कहा—"अरे, सन्तन के वचन पर अब भी तुझे विश्वास नहीं होता? हमारा वचन कभी झूठा नहीं होगा।" यह सुन प्रसन्न होकर उसने फिर दण्डवत्

प्रणाम किया। वे वहाँ से चल दिये। तत्पश्चात् तीसरे दिन यह राजकीय आदेश हुआ कि प्रत्येक कारागार से तीन-तीन कैदी छोड़ दिये जावें। इस आदेश के अनुसार वह ब्राह्मण भी मुक्त हो गया। वह श्रीरामदासजी के पास बृन्दावन में आकर उनको साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करके उनकी महिमा का वर्णन करने लगा।

एक बार श्रीबृन्दावन के कुम्भमेले में श्रीरामदासजी को भारत के उपस्थित समस्त सन्त महन्तों ने मिलकर ब्रजमण्डल के ब्रज-विदेही महन्त और कुम्भमेले के चारसम्प्रदाय के श्री (प्रधान) महन्त पदों पर अभिषिक्त किया। अधिकतर सभी साधु गाँजे और चरस पीते हैं, बहुत ब्रजवासी भी गाँजा और चरस पीते हैं। एक गौतम ब्रजवासी ने साधुओं के बल की परीक्षा लेनें के लिये दाऊजी से एक बड़ा भारी चिलम बनवाकर उसमें एकदम सवा सेर चरस चढ़ाया। चरस चढ़ाने की रीति यह है कि पहले चिलम में तम्बाकू चढ़ाकर उस तम्बाकू के बीच में चरस को गोली रखनी होती है, जिस पर फिर तम्बाकू चढ़ाकर उस तम्बाकू के ऊपर कोयले के जलते हुए अंगारे रखे जाते हैं, तब चिलम को हाथों से पकड़कर मुँह से खीचकर धुआँ पीना होता है। जोर से खींचने से ऊपर वाली तम्बाकू की तह के जलने पर चरस तक आग की आँच पहुँचती है और चरस धक्-धक् जलने लगती है। उस समय चिलम के ऊपर अग्नि-शिखा दिखलायी देती है। इसी को चरस उड़ाना कहते हैं। सवा सेर चरस का गोला एक साथ

एक चिलम में चढ़ाना हो तो कम से कम सवा सेर तम्बाकू (तम्बाकू के पत्तों के बूरे में गुड़ मिला कर) चाहिये। इस रीति से सवा सेर चरस एक बड़े भारी चिलम में चढ़ाकर उसे लोहे की सांकल से बाँधकर उस ब्रजवासी ने एक वृक्ष की डाल में लटका दिया और सबको पुकार करके कहा—"जिस में सामर्थ्य हो वह आकर चिलम को उड़ावे।" बहुत लोगों ने चेष्टा की, किन्तु उनमें से कोई भी उस चिलम से धुआं तक नहीं निकाल नहीं सका। अन्त में बहुत साधु इकट्ठे होकर श्रीरामदास जी के यहाँ जाकर उनसे बोले—"महाराज ! एक ब्रजवासी एक चिलम में सवा सेर चरस भरकर कह रहा है कि किसी साधु को सामर्थ्य हो तो इसको उड़ावे। हम सभी ने चेष्टा की, लेकिन कोई इसका धुआँ तक नहीं निकाल नहीं सका। आप ही यदि चलकर साधुओं का नाम रक्खें तो मान रहे।" उन्होंने कहा—"मैं चलता हूँ।" वे गरीबदासजी को संग में लेकर जहाँ चिलम लटकती थी, वहां गये और बोले—"अच्छा गरीबदास ! तुम पहले इसका धुआँ निकालो।" तब गरीबदासजी ने खूब जोर से दम लगाया, उससे कुछ धुआँ निकला, पर चिलम न उड़ी। यह देखकर श्रीरामदासजी ने स्वयं जाकर ऐसा कसकर दम लगाया कि समस्त चरस एकदम धक्-धक् जल उठी और उसकी शिखा वृक्ष के ऊपर तक जा पहुँची। तब सब लोग जयध्वनि कर उठे और उस ब्रजवासी ने भी प्रसन्न हो भेंट चढ़ाकर उनकी पूजा की।

श्रीरामदासजी की धूमपान की शक्ति के विषय में और एक

घटना का वर्णन कर रहा हूँ। एक बार वे श्रीगरीबदासजी को संग में लेकर भरतपुर से लगभग दो सेर चरस साथ रख श्रीबृन्दावन की ओर आ रहे थे। अंगरेजी राज्य में इतना चरस साथ में रखना नियम-विरुद्ध था। पुलिस उनको मैजिस्ट्रेट साहब के समीप ले गयी। साहब ने कहा—"तुम इतना चरस कैसे लिये जाते हो? क्या बेचोगे?" उन्होंने कहा—"मैं इतना तो एक दो दिन में पी जाता हूँ।" साहब ने कहा—"इतना चरस दो रोज में पी जाते हो? अच्छा, हम को दिखलाओ।" उन्होंने गरीबदासजी को आधा-आधा पाव चरस चिलम में चढ़ाने की आज्ञा दी और साहब-मेम के सामने इस भाँति चिलम में दम लगाने लगे कि भक्-भक् करके चिलम के ऊपर अग्निशिखा उठने लगी, उसे देखकर मेम साहिबा डर से चिल्लाने लगी और उसने साहब से कहा—"इसको छोड़ दो।" साहब ने कहा—"अच्छा, सीतापाद्री! तुमको चरस का ताम्रपत्र दे देंगे, और कोई तुमको पकड़ेगा नहीं।" उन्होंने कहा—"मुझे ताम्रपत्र नहीं चाहिये, कोई पकड़ेगा तो फिर ऐसे ही पीकर दिखा दूँगा।' तब साहब और मेमने हँसकर कहा—"अच्छा, तुम जाओ।"

एक बार उज्जैन के कुम्भमेले में कई दिन पहले ही अनेक शैव संन्यासी पहुँच गये। उनमें एक श्रेष्ठ तपस्वी थे। उनमें अनेक प्रकार की अलौकिक शक्तियाँ थीं। उज्जैन के राजा उनकी विभूतियों को देखकर उनके शिष्य हो गये। इससे संन्यासियों ने उत्साह और हर्ष से फूलकर कुँभमेले के समस्त स्थानों पर अपना

अधिकार जमा लिया और प्रतिज्ञा की कि वैष्णव साधु-दलों को मेले में स्थान न देंगे। साधु लोग यथासमय मेले में उपस्थित हुए, पर संन्यासियों ने उनको उनके निर्दिष्ट स्थान में प्रवेश नहीं करने दिया, वे सब मेले के बाहर इकट्ठे होने लगे। लगभग साठ हजार साधु मेले के बाहर एकत्र हुए। किन्तु संन्यासियों की संख्या इससे भी अधिक थी और राजा का आनुकूल्य पाकर उन लोगों का गर्व भी बहुत बढ़ गया था। इसलिये साधुओं का यह साहस नहीं हुआ कि उनसे लड़कर अपने निर्दिष्ट स्थान पर अधिकार जमाते। अतः सभी साधु एक साथ वहाँ से लौटने लगे। ब्रजविदेही महन्त तथा वैष्णव चारसम्प्रदाय के श्रीमहन्त होने से श्रीरामदास जी को प्रत्येक कुम्भमेले में जाना पड़ता था। इसलिये वे कुछ साधुओं को संग में लेकर उज्जैन की ओर जा रहे थे। लौटते हुए उन साधुओं के बड़े भारी दल से उनकी भेंट हुई। उन्होंने अपर महन्तों से पूछा—"तुम लोग क्यों लौटे आ रहे हो? अभी तो मेले की तिथि ही नहीं आयी है?" महन्तों ने कहा—"हम लोगों की संख्या साठ हजार है, किन्तु संन्यासियों की संख्या हम लोगों से बहुत अधिक है। और राजा को चेला बनाकर वे शक्तिसम्पन्न हो गये हैं और उन्होंने हमारे निर्दिष्ट स्थानों पर अधिकार कर लिया है। यदि हमलोग वहाँ प्रवेश करना चाहते हैं तो वे दङ्गा करने को प्रस्तुत होते हैं। इसलिये हम वहाँ से लौटे आ रहे हैं।" यह सुनकर उन्होंने कहा—"तुम व्यर्थ साधु हुए हो। यदि मृत्यु से डरते हो तो तुम्हें घर में ही रहना चाहिये था।

साधु होकर मृत्यु से डरना ठीक नहीं है। यदि तुम लोगों के अपने निर्दिष्ट स्थान में जाने की चेष्टा से लड़ाई होती तो उसमें हानि ही क्या थी? सन्यासी लोग शिवजी की उपासना करते हैं, उन्होंने शिवजी की श्रेष्ठता प्रदर्शित करते हुए तुम लोगों के स्थान पर अधिकार कर लिया है, तुम लोग विष्णु की महिमा का कीर्तन करते हुए अपने स्थान पर अधिकार पाने के हेतु यदि लड़ाई करते तो तुम सब 'विष्णु-विष्णु' कह प्राण त्यागकर वैकुण्ठ धाम को पधारते और संन्यासी लोग 'शिव-शिव' उच्चारण करते हुए प्राण त्यागकर शिवलोक को प्राप्त होते। इसमें दोनों का कल्याण होता, तुम्हारा कापुरुषों के समान लौट आना अनुचित हुआ है। इससे तुमने अपने उपास्यदेव विष्णु पर कलङ्क लगाया है।" उनके इस प्रकार के वाक्य से सब साधु उत्साहित हो उठे और बोले—"हमने न्याय विरुद्ध आचरण किया है, आप हमारे आगे-आगे चलिये, हम साठ हजार आपकी सेना बनकर आपके पीछे-पीछे चलते हैं।" यह कहकर उन्होंने एक महन्त के हाथी को उनके सामने लाकर उपस्थित किया। उसपर चढ़कर वे सबके आगे-आगे चले और समस्त साधु-दल उनके पीछे चला। कुम्भमेला मैदान में उपस्थित होने पर सबके आगे श्रीरामदासजी का स्वरूप दर्शन करते ही संन्यासीदल विमुग्ध हुये और भयभीत होकर साधुओं के निर्दिष्ट स्थान को छोड़ अपने ही निर्दिष्ट स्थान पर जाकर उन्होंने अपने-अपने आसन लगाये। कुम्भ का मेला भी निर्विघ्न समाप्त हुआ।

एकबार श्रीरामदासजी साधुओं की एक बड़ी जमात को साथ में लेकर विभिन्न स्थानों में भ्रमण कर रहे थे। गाँवों के बाहर जहाँ वृक्ष की छाया रहती है और पीने के लिये स्वच्छ जल होता है ऐसे स्थान पर जाकर जमात के साधु लोग अपने-अपने आसन लगाते हैं। भारत के पश्चिम देश में यह नियम है कि जमात के पहुँचने पर गाँव के लोग दर्शन के लिये आकर दण्डवत् प्रणाम करते हैं और साधुओं की कितनी मूर्तियाँ हैं जानकर उसी संख्या के अनुसार आटा, दाल, नमक आदि सामग्री एकत्र कर महन्तजी के पास पहुँचा देते हैं। तत्पश्चात् महन्तजी की आज्ञा से दो-चार साधु सामग्रियों को प्रत्येक साधु के आसन के समीप जा जाकर बाँट देते हैं। इससे कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जिनके साथ पाँच साधु हैं, वे "दस साधु हैं" कहकर दस का सामान माँग बैठते हैं, इसलिये कभी-कभी झगड़ा भी हो जाता है। श्रीरामदासजी के साधु जमात में भी किसी-किसी दिन इस प्रकार का झगड़ा उपस्थित हो जाता था। उस जमात में एक वृद्ध परमहंस थे। ऐसे झगड़े से कुढ़कर एक दिन श्रीरामदासजी से बोले—"तुम्हारे सम्प्रदाय का वैराग कुछ नहीं है। खाली पेट का वैराग है। पेट के लिये सारे दिन लड़ते हैं।" समस्त वैराग-सम्प्रदाय के प्रति इस प्रकार की तीव्र अवज्ञा सुनकर उन्होंने तत्काल ही दीनभाव से हाथ जोड़कर परमहंसजी से कहा—"महाराज! वैराग कैसा होता है, आप कृपा करके मुझे उपदेश कीजिये, आज से आपके उपदेश के अनुसार मैं चलूँगा।"

परमहंसजी प्रसन्न हुए और अपने को गुरु स्थान में स्थापित समझकर बोले—बच्चा, वैराग ऐसा होता है कि किसी ने कोई चीज तुम्हारे आगे लाकर धर दी तो अपने प्रयोजन के अनुसार उसमें से कुछ ले ली, ऐसे जो कुछ मिले उसीसे सन्तोष कर लिया, नहीं कुछ मिला तो भी यों ही सन्तोष कर लिया, किसी से माँगना नहीं, अपने मन से सदा सन्तोष रखना!" यह सुनकर उन्होंने कहा—'महाराज! आज से मेरा आसन आपके आसन के पास लगेगा और आपने जैसा बताया मैं वैसा ही करूँगा, और साधु ऐसा करें या न करें।' तदनन्तर उन्होंने दूसरे साधुओं के मुखियों को एकान्त में बुलाकर कह दिया—"आज से तुम्हारे वास्ते ऋद्धि-सिद्धि नहीं आयेगी, तुम लोग गांव में जाकर कुछ दिनों तक मांगकर गुपचुप अपना गुजारा कर लेना, जमात के पास और ऋद्धि सिद्धि नहीं आयेगी। परमहंस को कुछ दिखलाना चाहिये।" दूसरे दिन प्रातः काल उस स्थान से जमात उठी और मध्याह्न के समय दूसरे गाँव में पहुँची। किन्तु उस दिन उन साधुओं के लिये सामान नहीं आया। और साधु गांव के घरों में कुछ [illegible] माँगकर गुपचुप खा-पी आये। केवल श्रीरामदासजी गाँजा, चरस, भङ्ग पीते थे, परमहंसजी वह भी नहीं पीते थे, केवल जल पीकर रह गये।

दूसरे दिन जमात उठकर एक और गाँव में जा पहुँची। वहाँ के भी लोगों ने सामान नहीं पहुँचाया। वे दोनों उपवासी रह गये और सब साधु पूर्ववत् गाँव में जाकर गुपचुप भोजन कर

आये। इसी भाँति दिन पर दिन बीतने लगे, परमहंसजी क्रमशः अवसन्न होने लगे। आठवें दिन परमहंसजी में चलने की शक्ति न रही, विकल हो गये और आर्त्त भाव से बोले—"बाबा! भोजन के अभाव से मैं अवसन्न हो गया हूँ, अब मेरे प्राण निकलते हैं।" यह सुनकर श्रीरामदासजी ने कहा—"परहंसजी! आप आर्त्तनाद क्यों कर रहे हैं, आपके लिये क्या करना होगा, मुझको आज्ञा दीजिये।" उन्होंने कहा—"बाबा! क्षुधा से मेरे प्राण निकल रहे हैं, मेरी और वाक्यस्फूर्त्ति नहीं होती है, तुम गाँव से कुछ खाद्यसामग्री माँगके लाकर मुझको दो, नहीं तो मेरे प्राण निकल जायेंगे।" तब श्रीरामदासजी ने हाथ जोड़कर कहा—"महाराज! वैराग किसको कहते हैं? आपने तो बताया था कि किसीसे माँगने से वैराग नहीं रहता है, अब मुझे कैसे माँगने को उपदेश देते हो?" यह सुनकर परमहंसजी सचेत हुए और यह समझे कि उन्होंने वैराग की अवज्ञा कर बड़ा ही अपराध किया है। वे हाथ जोड़कर बोले—"बाबा! मुझसे बड़ा कसूर हुआ है, तुम क्षमा करो, मैं अज्ञान हूँ। वैराग का माहात्म्य मुझको मालूम नहीं था, मेरे अपराध को तुम क्षमा करो, मैं अपने कान पकड़ता हूँ।" तब श्रीरामदासजी ने प्रसन्न होकर कहा—"परमहंसजी! आप कुछ चिन्ता मत कीजिये, अभी गाँव वाले सब ऋद्धि-सिद्धि लेकर आपके सामने हाजिर होंगे, वैराग की ऐसी निन्दा नहीं करना, वैष्णव लोग बड़े लीला-चतुर होते हैं, इनके प्रभाव को समझना बड़ा कठिन है, ये सब लीला करते फिरते हैं, किस घट में कैसे पुरुष विराजते हैं इसका पता

सबको नहीं मिलता है।" उनके ऐसा कहते ही कहते यह देखने में आया कि गाँव के लोग सिर पर खाने का सामान लेकर आ रहे हैं और थोड़ी ही देर में उन्होंने सब सामान श्रीरामदासजी के आगे उपस्थित किया। परमहंसजी भी समुचित शिक्षा पाकर विनम्र हुए।

प्रतिवर्ष जन्माष्टमी के दो दिन पश्चात् दशमी से चौरासी-कोस वाली ब्रजपरिक्रमा प्रारम्भ होती है। इस परिक्रमा का परिचालन ब्रजविदेही महन्त होने से श्रीरामदासजी ही करते थे। भारत के विभिन्न देशों से बहुत साधु इकट्ठे होकर उनके साथ परिक्रमा में जाते थे। मथुराजी में जहाँ भूतेश्वर महादेवजी विराजते हैं वहीं से परिक्रमा आरम्भ होती है और लगभग डेढ़ महीने में समाप्त होती है। जिस दिन परिक्रमा पूरी हो जाती थी, उस दिन जमात मथुराजी में लौटकर जहाँ गोकर्ण महादेवजी हैं, उसी स्थान पर कई दिन टिकती थी। तत्पश्चात् जमात टूटती थी और सब साधु अपने-अपने स्थान को चले जाते थे। जमात जितने दिन गोकर्ण महादेवजी के यहाँ रहती थी उतने दिन मथुरा के निवासी साधुओं के भोजन का सामान उपस्थित कर देते थे। एक बार श्रीरामदासजी ने परिक्रमा के अंत में जमात लेकर उसी प्रकार गोकर्ण महादेवजी के समीप अपना आसन लगाया और जमात के सब साधु वहीं आ गये। उस बार उन साधुओं में से कोई कोई साधु बड़े क्रोधी थे। शहर में उन्होंने गृहस्थों के घर जाकर दूध लूटने में बड़े झगड़े किये और इस कारण से शहरवालों ने रूठकर

पहले दिन साधुओं के लिये खाद्य-सामग्री न पहुँचायी। इससे सब साधु बिना खाये रह गये। साधुओं के लिये श्रीचतुर चिन्तामणि नागाजी महाराज के प्रति भगवान के व्रज में दूध लूटने के वरदान से साधु लोग दूध लूटने के अधिकारी हैं यह वे लोग जानते हैं (इस वरदान के विषय में श्रीरामदासजी की व्रज-परिक्रमा के प्रसंग में आगे वर्णित होगा)। उस बार पहले दिन साधुओं को भूखा रहना पड़ा। उसके दूसरे दिन कई मथुरा-वासी साधुओं के दर्शन के लिये आये। उनमें से कुछ बाबू लोग जूता पहने हुए श्रीरामदासजी की धूनी के समीप बैठकर वार्त्तालाप करने लगे। वे लोग जो जूता पहने हुए धूनी के समीप बैठे हैं यह उन्होंने लक्ष्य नहीं किया था। पर एक साधु ने आकर यह देखकर कहा—"अरे! तुम सब कैसे जूता लेकर महात्मा की धूनी पर आकर बैठ गये?" यह सुनकर उनमें से एक बोल उठा—"अरे! हम भी ब्रजवासी साधु ही हैं, जूता ले आये तो क्या हुआ?" इस हठ से रूठकर उस साधु ने दो एक गालियाँ दीं। उस मथुरावासी ने भी गालियाँ देकर कहा—"अरे सब पेट का वैराग है? हम सब जानते हैं, सभी बड़े-बड़े महन्त बन जाते हैं और यहाँ आकर भूखा पड़ता है।" इस अवज्ञासूचक वाक्य को सुनकर श्रीरामदासजी ने केवल एक ही वार उसकी ओर तीव्र दृष्टि से देखा, किन्तु एक बात भी उसने नहीं कही। उस तीव्र दृष्टि से ही वह जहाँ खड़ा था वहीं तत्काल ही भूमि पर गिर गया और छटपटाने लगा। दूसरे मथुरावासी, जो जमात के दर्शन के लिये आये थे, उसकी शुश्रूषा

करने लगे। परन्तु देखते ही देखते वह मर गया। तब सब कोई हाय-हाय करते हुये उसके शव को वहाँ से हटा ले गये। तत्पश्चात् नगर के लोगों ने आकर साधुओं से क्षमा माँगी और उनकी सेवा करने लगे। किन्तु उस बार गोकर्ण के महन्तजी से भी कुछ गोलमाल होने से श्रीरामदासजी ने कहा—"मैं और कभी यहाँ आकर आसन नहीं लगाऊँगा।" तब से परिक्रमा के पश्चात् वे फिर कभी वहाँ नहीं जाते थे। कई वर्ष बाद कोई-कोई साधु उसके निकटवर्त्ती स्थानों में आसन लगाते थे परन्तु उस समय से उस स्थान पर साधुओं का मेला नहीं लगता है।

कुम्भ का मेला हरिद्वार इत्यादि स्थानों में निर्दिष्ट समयों पर हुआ करता है। कुम्भमेला के वैष्णव चारसम्प्रदाय के श्रीमहन्त होने से श्रीरामदासजी को सब कुम्भमेले में जाना पड़ता था। इसके अतिरिक्त ब्रजविदेही महन्त होने से ब्रजचौरासी कोस की परिक्रमा में भी वे प्रति वर्ष जाते थे। और समय वे प्रायः श्रीवृन्दावन में जमुना-तट के पूर्वोक्त घाटपर ही रहते थे। बहुत ब्रजवासी जिनमें से अधिकतर गौतमवंशीय ब्राह्मण विशेष रूप से उन पर आकृष्ट हुए थे। उन गौतमवंशीय ब्राह्मणों में प्रधान छन्नूसिंह, नोनासिंह आदि का एक बगीचा केमारवन मुहल्ले में रेलवे लाईन से संलग्न था। यहाँ हनुमानजी की मूर्त्ति स्थापित थी। उस स्थान पर ब्रजवासी युवक और बालक कुश्ती लड़ने जाते थे। छन्नूसिंह आदि बगीचे के मालिकों ने उनको उस बगीचे में ले जाकर स्थापन करने को मनस्थ कर उनके समीप एक दिन इस

विषय का प्रस्ताव किया। उन्होंने कहा—"यदि तुम लोग मुझे उस स्थान को दान करो तो वहाँ मैं जा सकता हूँ, नहीं तो इस यमुना के किनारे में ही मैं आनन्द से हूँ।" उन लोगों ने दान करने को सम्मत होकर कहा कि आप तथा आपके चेले पर चेले आदि में से जब तक कोई जीवित रहेगा, तब तक उस भूमि पर आप लोगों का स्वत्व रहेगा, किन्तु जब चेला श्रेणी का कोई न रहेगा, तब बगीचों में फिर हमारे वंशजों का स्वत्व होगा। यह कहकर उन्होंने उनको बगीचा अर्पण कर दिया। उस वर्ष ही माघ मास में प्रयाग का कुम्भमेला हुआ; इससे कुछ पहले वे तीर से उठकर उस बगीचे में आये। वहाँ उन्होंने झोपड़ी बनाकर उसके भीतर धूनी स्थापन की और तब से वे उसी स्थान में रहने लगे। इसके कुछ दिन पश्चात् प्रयाग में कुम्भमेला लगने पर वे आश्रम में श्रीगरीबदास को रखकर प्रेमदास नामक अपने एक साधक चेले को, तथा कल्याणदास नामक एक श्रीसम्प्रदाय के साधु को और गङ्गा नाम की एक बड़ी बकेन गाय को साथ लेकर प्रयागराज में जा पहुँचे।

श्रीरामदासजी की कुछ महिमा प्रकाश के उद्देश्य से श्रीप्रेमदासजी का थोड़ा-सा परिचय यहाँ दिया जा रहा है—

श्रीप्रेमदासजी एक ब्रजवासी ब्राह्मण के पुत्र थे और दाऊजी के निकटस्थ एक ग्राम में इनका जन्म हुआ था। श्रीरामदासजी के एक बड़े गुरुभाई ने इनको बचपन में चेला बनाकर प्रेमदास नाम रखा था और श्रीरामदासजी के समीप ले जाकर इन्हें

सौंपकर कहा था—"यह चेला तुम्हारे निकट रहकर सदा तुम्हारी सेवा करेगा। इसे तुम अपने चेले के समान रखना।" तब से यह सदा श्रीरामदासजी के पास रहने लगे। इनका नाम जैसे प्रेमदास था इनका स्वभाव भी वैसे ही प्रेममय था। पढ़ने-लिखने में भी ये अच्छे थे। 'सूरसागर' को ये बड़े प्रेम से पढ़ते थे। श्रीवृन्दावन के अनेक स्थानों में पण्डित लोग पुराणादि का पाठ समय-समय पर किया करते हैं। इन पाठों को सुनने में इनका बड़ा प्रेम था, इसलिये ये प्रायः पाठ सुनने को जाते थे। पण्डितों की कथा सुनते सुनते एक बार इनके जी में यह भाव उठा कि कण्ठी, यज्ञोपवीत आदि रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। खाद्याखाद्य की जो निष्ठा और नियम वैष्णव लोग रखते हैं यह व्यर्थ है। परमहंसवृत्ति वैरागियों के लिये सबसे अच्छी है। सभी ब्रह्म हैं, सभी वस्तुएँ समान हैं। आश्रम में आकर इन सब मतों को वे सबके समाने प्रकट करने लगे। यह सुनकर श्रीरामदासजी ने कहा—"यह तो पागल हो गया है, इसकी बात क्या सुनें?" यह बात उनके मुँह से निकलते ही प्रेमदासजी में उन्माद के लक्षण प्रकट हो गये और वे उन्मत्त का सा आचरण करने लगे। उनकी आखें लाल हो गईं और उसी समय एक चिमटा हाथ में लेकर आश्रम से निकल गये और बहुत कुछ बाह्य ज्ञानशून्य अवस्था में दूरवर्त्ती बरसाना आदि स्थानों में द्रुतवेग से जाकर भ्रमण करने लगे। न कुछ खाते पीते थे और न सोते थे। जिधर वे दृष्टिपात करते थे उधर केवल श्रीरामदासजी की मूर्त्ति हो दिखाई देती थी।

पाँच दिन इस प्रकार अनेक स्थानों में विचर कर काटों से क्षतविक्षत होकर वे फिर श्रीवृन्दावन में लौटे। श्रीगरीबदासजी उनको इस दशा में देखकर अत्यन्त दयार्द्र हुये और उनको पकड़कर बलपूर्वक आश्रम में श्रीरामदासजी के सामने लाये तथा हाथ जोड़कर उन्होंने विनती की--"महाराज! प्रेमदास बालक है, तुम्हारा बाल गोपाल है, इस पर कृपा करो! यह एकदम उन्मत्त हो गया है, बाह्यज्ञानशून्य है। कृपाकर इसको स्वस्थ कीजिये।" श्रीरामदासजी ने कहा—"मैं क्या करूँ? क्या मैं वैद्य हूँ?" यह सुनकर गरीबदासजी और भी अनुनय विनय करने लगे, तो उन्होंने कहा—'ठाकुरजी का प्रसाद उसको दे सकते हो। प्रसाद-माहात्म्य यद्यपि वह नही मानता है, तो भी उसको खिलाकर दिखाओ कि उसका माहात्म्य है कि नहीं।' तब गरीबदासजी ने प्रसाद की रोटी प्रेमदासजी के हाथ में दी और धमकाकर कहा--"इसको खाओ।" प्रेमदासजी ने उस रोटी का एक टुकड़ा मुँह में डाला, तो वह उनको ज़हर के समान तिक्त प्रतीत हुआ। गरीबदासजी के धमकाने से प्रेमदासजी उसको निगल गये, किन्तु किसी प्रकार से खा नहीं सके। तब श्रीरामदासजी ने आप से आप कहा—"अरे खा, और एक बार देख कैसा है।" इस बात पर उन्होंने फिर एक टुकड़ा तोड़कर मुँह में डाला; किन्तु इस बार मुँह में डालते ही उन्हें यह अमृत समान लगा, वैसी स्वादिष्ट वस्तु उन्होंने और कभी नहीं खायी थी। अनन्तर सब रोटी वे धीरे-धीरे खा गये। भोजन समाप्ति के साथ ही साथ उनकी उन्मत्तता चली गई और

वे स्वस्थ हो गये और उन्होंने श्रीरामदासजी को साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रमाम किया। तब श्रीरामदासजी ने कहा—"क्यों, तू ने कहा था न कि सभी वस्तु समान हैं, अब तो प्रसाद का माहात्म्य देखा ? इसीलिये वैष्णव लोग शुद्धाचार से रहकर श्रीठाकुरजी को पवित्र पदार्थ का भोग लगाते हैं। यह प्रसाद अन्य खाद्य वस्तुओं के तुल्य नहीं है। इसका माहात्म्य इतना अधिक है कि वर्णन करना कठिन है।" प्रेमदासजी ने फिर दण्डवत् प्रणाम करके कहा—',महा-राज ! मैं पण्डितों की बातों से मोह में पकड़कर पवित्र, अपवित्र, शुचि, अशुचि आदि के भेद को केवल भ्रममात्र समझने लगा था, आपकी कृपा से मेरा भ्रम अब दूर हुआ।" तब से प्रेमदासजी फिर श्रीरामदासजी की सेवा करने लगे। किन्तु स्वभावतः प्रेमी होने से भी गाँजा और चरस अधिक पीने के हेतु उनका मस्तिष्क गर्म हो उठता था और वे समय-समय पर लोगों से झगड़ते और रूठते थे। यह देखकर श्रीरामदासजी ने एक दिन उनको बुलाकर कहा—'अरे ! तू बड़ा क्रोधी है, तू लोगों से बड़ा झगड़ता रहता है, अतः तू मौनी रहा कर, किसीसे भी बारह वर्ष पर्यन्त बात नहीं कर सकेगा।' श्रीप्रेमदासजी ने इन घटनाओं को स्वयं वर्णन करते हुऐ कहा था—'जब श्रीरामदासजी ने इस प्रकार कहा, उसी समय मुझको यह प्रतीत हुआ कि मानों किसी ने मेरी जीभ में ताला लगा दिया है, मेरी बोलने की शक्ति नहीं रही, इसलिये मैं बाध्य होकर मौनी हुआ।" प्रेमदासजी बारह वर्ष इस प्रकार से मौनी रहे, इसलिये सब लोग उन्हें मौनी कहते थे। एकबार उनको बड़े

ही विषैले सर्प ने डसा था, वे तीव्र दंशन यातना से विकल हो गये, पर उस समय भी उनमें 'ऊह' तक करने की सामर्थ्य नहीं हुई। श्रीरामदासजी ने तत्काल ही धूनी से जलते हुए कोयले को लेकर उस दंशित स्थान पर रख दिया। वह स्थान जलने लगा, तिसपर भी वे 'ऊह' तक नहीं कर सके। इस प्रकार निरन्तर मौनवृत्ति से बारह वर्ष व्यतीत हो जाने पर उनके उस मौनव्रत को भङ्ग कराने के लिये श्रीरामदासजी ने भण्डारा कराया। भण्डारे में उपस्थित साधुओं ने मौनीजी से कहा—'तुम्हारा व्रत अब पूरा हो गया है, अब तुम बोलो।' किन्तु मौनीजी ने तब भी बोलने में अपने को अशक्त पाकर श्रीरामदासजी की ओर उँगली से संकेत करके यह उत्तर दिया कि वे बोल नहीं सकते, यदि श्रीरामदासजी उनको बोलने की शक्ति खोल दें तब ही बोल सकेंगे। तब श्रीरामदासजी उनको पुकार कर बोले—'मौनी! अबसे तुम बात करो।' तब मौनीजी ने अनुभव किया कि मानों उनकी जीभ का ताला खुल गया। उन्होंने आनन्दित होकर 'श्रीजी' इस शब्द का पहले उच्चारण किया और तबसे सबके साथ सम्भाषण करने लगे।

मौनीजी ने स्वयं कहा था कि मौनावस्था में व्रज की परिक्रमा के समय एकबार वे अभिमान करके श्रीरामदासजी का संग छोड़ कर चले गये थे; किन्तु उनकी अनुपस्थिति में श्रीरामदासजी की सेवा में त्रुटि होती है, यह विचार कर उनको बहुत अनुताप हुआ। जिस दिन परिक्रमा की जमात राधाकुण्ड में

पहुँची उस दिन व श्रीरामदासजी के समीप आ गये। उस समय श्रीरामदासजी अपने आसन पर लेटकर आराम कर रहे थे। मौनीजी भी अश्रुपात करते-करते उनके चरणों के पास बैठकर पदसेवा करने लगे। श्रीरामदासजी उनसे मन्द स्वर में बोले — 'अब मैं बूढ़ा हो गया हूँ, अब तू मेरे यहां क्यों रहेगा? मेरे अपने दुःख पाकर मर जाने पर तू आश्रम में आवेगा।' मौनीजी तबभी चुपचाप अश्रुपात करते-करते पैर दबाते ही रहे; किन्तु कुछ ही देर में उन्होंने देखा कि उनके हाथ श्रीरामदासजी के अंग पर नहीं लग रहे हैं, आसन के ऊपर पड़ रहे हैं, श्रीरामदासजी का शरीर वहां नहीं है। तब मौनीजी अवाक् हो गये और किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर निरन्तर अश्रुपात करने लगे। इस प्रकार वे जब अतिशय व्याकुल हो पड़े, तब थोड़ी ही देर में उन्होंने फिर देखा कि श्रीरामदासजी पहले की भाँति आसन पर लेटे हुए हैं। तब मौनीजी के कुछ स्वस्थ होने पर श्रीरामदासजी उनसे बोले— "क्यों, मेरे चले जाने से यदि तू प्रसन्न होता है, तो कहो मैं अभी यहाँ से चला जाऊँ; नहीं तो यदि ऐसे वृद्ध को अकेले छोड़कर तुम लोग चले जाओगे, तो और कौन सेवा करेगा?" उन्होंने ऐसे असहाय की भाँति ये सब बातें कहीं कि उससे मौनीजी के प्राण एकदम द्रवीभूत हो गये। तब मौनीजी ने वेग से अश्रुपात करते-करते उठकर तीन बार श्रीरामदासजी की परिक्रमा की और साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करके उनके आगे हाथ जोड़ कर खड़े हुए। तब श्रीरामदासजी ने उनको बैठाकर सेवा करने की आज्ञा दी और

कहा—'फिर इस प्रकार अभिमान करके बूढ़े को मत छोड़ जाना।'

श्रीगरीबदासजी ने प्रयाग के पूर्वोक्त कुम्भमेले के छः मास पश्चात् ही श्रीबृन्दावन में देह-त्याग किया। तबसे बहुत वर्ष तक मौनीजी निष्कपट हृदय से श्रीरामदासजी की सेवा में नियुक्त थे। वे रसोई बनाते, श्रीठाकुरजी की सेवा-पूजा करते, रसोई में चढ़े हुए बर्त्तनों को मलते, दूर से घड़े में जल भर कन्धे पर लाते, आश्रम को परिष्कृत करते, गायों को चारा काट कर देते, गोबर थोप कर कण्डे बनाते, लकड़ी चोड़ते, श्रीरामदासजी के पैर दाबते तथा और भी जितने काम आ पड़ते उन सभीको वे स्वयं करते थे। प्रायः सदैव वे अकेले ही इन सभी कामों को करते थे, कभी-कभी उनको कुछ-कुछ सहायता किसी-किसी से मिल जाती थी। रसोई बनाने में वे बड़े ही सिद्ध-हस्त थे। उनके द्वारा निर्मित व्यञ्जनादि बड़े ही सुस्वादु होते थे। सेवा-कार्य में इस प्रकार की निपुणता तथा धैर्य साधारणतः दृष्टिगोचर नहीं होता है।

श्रीताराकिशोरजी ने पूर्वोक्त प्रयाग के कुम्भ मेले में ही श्री रामदासजी के सर्वप्रथम दर्शन लाभ किये थे। उस समय उन्होंने देखा था कि मेले में एक बड़े छाते के नीचे श्रीरामदासजी आसन पर विराजते थे। उनके एक पार्श्व में उसी छाते के नीचे मौनीजी बैठे रहते थे। उनका मौन तब तक भंग नहीं हुआ था, इसलिये वे किसीसे बातचीत नहीं करते थे। दिन भर वे एक ही स्थान पर बैठे रहते थे। उनकी आंखों से निरन्तर अश्रुधारा बहा करती थी।

उनका मुखमण्डल सदैव रक्तिम आभामय रहता था। दर्शकमात्र ही उस स्थान में उनकी मूर्ति के दर्शन कर श्रद्धान्वित होते थे।

कुम्भ-स्नान के दिन सब वैष्णवसम्प्रदाय श्रीरामदासजी को एक हाथी पर बिठाकर उनको आगे लेकर त्रिवेणी स्नानार्थ गये थे। कुम्भमेला माघ मास भर रहा। उसके समाप्त होने पर प्रयागराज से श्रीरामदासजी श्रीबृन्दावन में लौट आये। कुम्भ-मेलों से श्रीबृन्दावन लौटकर सदा अपने आश्रम में ही रहते थे। केवल भाद्रपद में वे साधुओं की जमात लेकर ब्रज चौरासी कोस की परिक्रमा करते थे। एकबार दिसम्बर सन १९०३ ई० में वे कलकत्ता पधारकर श्रीताराकिशोरजी के कलकत्ते के मकान पर लगभग एकमास रहे। तत्पश्चात् उन्होंने श्रीवृन्दावन में लौटकर निरन्तर आश्रम में ही निवास किया था।

जिस माघ मास में प्रयाग-कुम्भमेला होने का उल्लेख पहले किया गया है, उसके परवर्ती श्रावण मास में, श्रीगरीबदासजी का देहान्त हुआ। श्रीरामदासजी ने कहा था—'गरीबदास की साधुता परमावस्था को प्राप्त हुई थी, इसलिये भगवान् अनन्तदेव, जिनके प्रति वह अतिशय आकृष्ट था और जिनकी मूर्त्ति को दक्षिण से लाकर वह सदैव पूजा करता था, उसको इस मानव देह के दुःखों से सम्पूर्ण रूप से मुक्त कर स्वधाम ले जाने के अभिप्राय से सर्परूप धारण कर डसे थे।' गरीबदासजी इतने धैर्य-शील थे कि उन्होंने वाक्य द्वारा या आकृति से भी किसी को विदित नहीं होने दिया कि वे सर्पदंशन-यन्त्रणा का किञ्चिन्मात्र अनुभव कर रहे थे। अति जहरीले साँप से डसे जाने पर भी

"एक कोड़ा काट खाया" यह कहकर उसके पश्चात् ही वे नियमित समय पर ब्रह्ममुहूर्त में स्नान करके बैठे और नियमित इष्टोपासना की; किन्तु थोड़ी देर में ही अपने गुरुजी के समीप जाकर सो गये। उस समय भी उनके मुख की कान्ति पूर्ववत् प्रशान्त और निर्मल रही। अन्त में उनके देह के स्पन्दनरहित होने पर उन्होंने गोलोक-धाम को गमन किया। ऐसा जानकर श्रीरामदासजी ने उनके देह को यमुनाजी में विसर्जन किया। वर्षा के प्रबल स्रोत में उनकी देह प्रवाहित होने लगी; किन्तु मानों ब्रजधाम के प्रति भी प्रीति को दिखाने के लिये मथुरा के विश्राम घाट के सामने वह अति दीर्घ-जटाजूट समन्वित बृहदाकार देह तीन दिन तक सबके दर्शनार्थ अवस्थित रही। उनके प्रिय विश्राम घाट ने मानों साधुसङ्ग लाभ के लिये ही यमुनाजी में भँवर उत्पन्न कर उनके देह को अपने निकट रख लिया। वे सभी मथुरा वासियों के परिचित थे, इसलिये दल के दल मथुरावासी आकर उनके दर्शन और आरती करने लगे और सभी शोकातुर होकर उनकी अनुपम गुणावली का कीर्त्तन करने लगे। उनकी देह इस प्रकार तीन दिन तक ब्रजवासियों को दर्शन देकर विश्रामघाट को परित्याग कर अदृश्य हो गयी।

श्रीगरीबदासजी के देहान्त होने पर श्रीमौनीदासजी ने श्री-रामदासजी की सेवा का सम्पूर्ण भार लिया और वे निष्कपट भाव से उनकी सेवा करने लगे। इस प्रकार से उनके लगभग बारह वर्ष व्यतीत होने के पश्चात् उनका देहान्त हुआ।

—●—

चतुर्थ अध्याय

श्रीताराकिशोरजी का संक्षिप्त परिचय

श्रीरामदासजी के बंगाली गृहस्थ शिष्य भी बहुत हुए थे। उनमें से श्रीअभय नारायण राय और श्रीताराकिशोर चौधुरी महोदयों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। श्रीअभय नारायणजी के सम्बन्ध में कुछ घटनाएँ इस ग्रन्थ में प्रसंगतः मिलेंगी। श्रीतारा किशोरजी ने ही श्रीरामदासजी का जीवनचरित्र लिखा है, जिसके आधार पर मैं इस ग्रन्थ को लिख रहा हूँ।* श्रीरामदासजी के उस जीवन-चरित्र में उनकी महिमा प्रकाश के लिए श्रीतारा-किशोरजी ने अपने जीवन की बहुत-सी घटनायें लिखी हैं, वे सब इस ग्रन्थ में वर्णित होंगी। क्योंकि यह जानने का आग्रह पाठकों को अवश्य ही होगा कि श्रीताराकिशोरजी कौन और कैसे

---

* मैंने श्रीरामदासजी के दर्शन नहीं किये थे। उनके देहान्त के बहुत वर्षों के बाद श्रीताराकिशोरजी ने गृहस्थाश्रम का त्याग किया और उससे कई एक वर्ष बाद उन्होंने संन्यास ग्रहण किया और उन का "श्रीसन्तदास" नाम हुआ। फिर वे श्रीरामदासजी के ब्रजविदेही महन्त और वैष्णव चारसम्प्रदाय के महन्त पदपर अधिष्ठित हुए। उससे भी ढाई साल बाद में इन श्री १०८ स्वामी सन्तदासजी महाराज का साधुचेला हुआ। अतः इन्हीं के लिखित श्रीरामदासजी के जीवन चरित्र के आधार पर मैं इस ग्रन्थ को लिख रहा हूं।

पुरुष थे; इसलिये उनका परिचय संक्षेप में यहाँ दिया जा रहा है—

श्रीहट (सिलेट जिले (सम्प्रति स्वाधीन बंगला देश) में उनका जन्म हुआ था। उनके पिता का नाम श्रीहरकिशोर चौधुरी और माता का नाम गिरिजा सुन्दरी देवी था। माता-पिता ने उनका नाम श्रीताराकिशोर रखा था। वे अत्यंत तीक्ष्णबुद्धि थे। स्कूल-कालेजों की सब परीक्षाओं में वे कृतित्व के साथ उत्तीर्ण हुए। अन्त में एम० ए० बी० एल० परीक्षा में उत्तीर्ण होकर पहले सिलेट के जज कोर्ट में उन्होंने वकालत की, फिर कलकत्ता हाईकोर्ट में उन्होंने वकालत की और प्रसिद्ध वकील होकर वकीलों में श्रेष्ठ स्थान का अधिकार प्राप्त किया। कलकत्ता हाईकार्ट में वकालत करते समय ही उन्हें श्रीरामदासजी से दीक्षा मिली थी। तत्पश्चात् उन्होंने बहुत वर्षों तक आदर्श गृहस्थ जीवन व्यतीत किया। उनके गृह में गुरुज़ी का चित्र और शालग्रामजी की नित्य नियमित विधि-पूर्वक सेवा होती थी, और श्रीभगवान् को ही संसार का मालिक और अपने को उनका दास जानकर वे संसार के सब काम भगवत्-सेवा-भाव से करते थे। उनके गृह में बहुत विद्यार्थी रहते थे। आत्मीय स्वजन भी गंगास्नान, तीर्थयात्रा और अन्यान्य कारणों से प्रायः आकर रहते थे अतिथि अभ्यागत सदा ही आते जाते थे, इन सब की ही सेवा भगवद्बुद्धि रखकर प्रेम से करते थे। सभी रहनेवालों के लिए नियमित समय पर सन्ध्या, भजनादि करने का और भगवान् की आरती के समय उपस्थित होने का नियम था। सबको इस नियम का पालन करना ही पड़ता था।

उनके चरित्र का एक प्रधान वैशिट्य यह था कि वे जब जिसको सत्य करके जानते थे दृढ़ता के साथ उसका ही अनुसरण करते थे और उसके लिये ही अपने अर्थ सामर्थ्य और समस्त शक्ति को नियोजित करते थे। श्रीरामदासजी से दीक्षा प्राप्त होने के पश्चात् गृहस्थाश्रम में रहते समय कईएक वर्षों के अन्दर ही उन्होंने साधन में बहुत उच्च अवस्था प्राप्ति की। इस समय पहले उन्होंने श्रीरामदासजी का जीवन चरित्र लिखा, तत्पश्चात् शास्त्रों का अनुशीलन करके श्रीगुरु-कृपा से शास्त्रों के गंभीर तत्त्वों का अनुभव करके 'ब्रह्मवादी ऋषि और ब्रह्म-विद्या' नामक एक अपूर्व दार्शनिक ग्रन्थ लिखा। उसके बाद 'दार्शनिक ब्रह्मविद्या" नामक तीन खण्डों में ग्रन्थ लिखा, जिनमें षड्दर्शन की अतिसामञ्जस्यपूर्ण व्याख्या लिखी है। प्रथम खण्ड में वैशेषिकदर्शन, न्यायदर्शन, पूर्वमीमांसादर्शन और सांख्यदर्शन, द्वितीय खण्ड में व्यास-भाष्य सहित पातञ्जल दर्शन और तृतीय खण्ड में वेदान्त दर्शन की व्याख्या लिखी है। वेदान्तदर्शन में निम्बार्कभाष्य की व्याख्या की गई है, जहाँ-जहाँ शांकर-भाष्य के साथ निम्बार्कभाष्य का विरोध है, उन स्थलों में विस्तृत विचार करके दोषगुण दिखाये हैं। इस वेदान्त-दर्शन का हिन्दी में अनुवाद करके मुद्रित किया गया है। श्रीतारा-किशोरजी ने "ब्रह्मवादी ऋषि और ब्रह्मविद्या' ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है—"पण्डित समाज में किसीके साथ मेरी प्रतिद्वन्द्विता नहीं है। मुझमें पाण्डित्य का अभाव इतना अधिक है कि साधारण व्याकरणशास्त्र में भी मेरी व्युत्पत्ति अति अल्प है; परन्तु मेरा भाग्य अति असाधारण है, कारण मैंने महत्-कृपा प्राप्ति की है। उस

कृपा के वल से अति दुर्बोध्य दर्शन शास्त्र ने भी स्नेहमयी जननी की भाँति मेरे गोपन में रक्षित ज्ञानामृत मेरे अन्तर में प्रकाशित किया है, यह देख मैं स्वयं ही स्थान-स्थान पर विस्मित हुआ हूँ ।"

उनके येसब ग्रन्थ पढ़कर बड़े-बड़े पंडित भी उनकी मनीषा तथा ज्ञान को देखकर आश्चर्य हो गए हैं। इसके कुछ दृष्टान्त दे रहा हूँ। स्वर्गत पण्डित शिरोमणि पंचानन तर्करत्न महोदय ने लिखा है—

"कलकत्ता हाईकोर्ट के प्रसिद्ध बकील श्रीताराकिशोर चौधुरी महाशय के साथ मेरा आलाप-परिचय था। अपने यौवनावस्था के किसी-किसी कार्य के लिये उन्होंने अनुताप किया था और वे गुरु कृपा लाभ से जो कृतार्थ हुए हैं, उनका मोह विदूरित हुआ है, शास्त्रों के प्रति जो अवज्ञा वैदेशिक शिक्षा और अज्ञजनों के प्रति उत्कर्ष-ज्ञान के हेतु हुई थी वह उनकी विदूरित हुई है—ये सब बातें जब उन्होंने कहीं, तब उनके नेत्र अश्रुपूर्ण, वाक्य वास्प-गद्गद हुए थे। उनकी इस भाव-प्राप्ति से पहले उनको मैंने नहीं देखा था। सिलेट निवासी मेरा भक्त छात्र धर्माचार में एकनिष्ठ स्वर्गीय नवकुमार शास्त्री मुझको जब उनके समीप ले गये उस समय का भाव मैंने ऊपर वर्णन किया है। श्रीताराकिशोरजीने जब 'ब्रह्मवादी ऋषि और ब्रह्मविद्या" लिखी है, "दार्शनिक ब्रह्मविद्या" भी लिखी है—अतः वे तब अविद्या से मुक्तिलाभ में अग्रसर थे। किन्तु संन्यास ग्रहण तब भी नहीं किया था। सर्वत्याग की आन्तरिक इच्छा जो उस समय उनमें अन्तर्निहित थी, वह उनके इङ्गित न करने पर भी मेरा ऐसा अनुमान हुआ था। मैं उनके साथ उस

एक दिन मात्र के वार्त्तालाप से ही समझा था कि इनमें प्रकृत शास्त्रश्रद्धा उत्पन्न हुई है। अपने ब्राह्मण-पण्डित-सम्प्रदाय में शास्त्र में विश्वासी और शास्त्र में श्रद्धासम्पन्न व्यक्ति बहुत हैं, किन्तु हमलोगों की श्रद्धा और विश्वास की गम्भीरता और दृढ़ता की परीक्षा प्रायः नहीं होती है। वहरमपुर के तलवाही गङ्गास्रोत की भाँति क्रमशः ही उसकी गभीरता और वेग क्षीण होता है कि नहीं यह कहना कठिन न होने से भी कह नहीं सकता हूँ; किन्तु चौधरी महाशय की श्रद्धा जो गंभीरता और दृढ़ता की परीक्षा में उत्तीर्ण है, वह मैं मुक्तकण्ठ से कह सकता हूँ, ...मेरे प्रति चौधरी महाशय का जो आदर था वह मैं नहीं भूलूँगा। उनकी शास्त्रकथा, मेरे प्रति प्रश्न और तत्पश्चात् अर्घदान द्वारा मेरी अर्चना, यह भी भूलने की नहीं है।" (१३४२ बंगला सन् की पौष संख्या "प्रवर्त्तक" मासिक पत्रिका)।

पण्डितप्रवर पञ्चानन तर्करत्न महोदय जब श्रीताराकिशोरजी के समीप आये थे, उस समय श्रीआशुतोष भट्टाचार्य स्मृतिरत्न महोदय उपस्थित थे। उन्होंने लिखा है—"श्रीताराकिशोरजी ने भट्टपल्लीनिवासी पण्डिताग्रगण्य श्रीयुक्त पञ्चानन तर्करत्न महाशय को सांख्यदर्शन की पाण्डुलिपि पढ़ने को दी। तर्करत्न महाशय ने बहुत पृष्ठ पढ़कर श्रीताराकिशोरजी के साथ विचार करना प्रारम्भ किया। बहुत देर तक दोनों की आलोचना चलने के बाद अन्त में तर्करत्न महाशय ने उठकर दोनों हाथों से श्रीताराकिशोरजी को आलिङ्गन करके आश्चर्य चकित होकर कहा—" यह नवीन

अद्भुत् वस्तु आपको कहाँ मिली ?' उत्तर में श्रीताराकिशोरजी ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से कहा— यह गुरुकृपा है, मेरी अपनी शक्ति कुछ भी नहीं है, श्रीगुरुदेव ने मेरे अन्दर से जो कहलाया है वह ही मैंने कहा है।' (श्री १०८ स्वामी सन्तदास बाबाजी महाराज के जीवन चरित्र २ य संस्करण १९९—२०० पृष्ठ)

डक्टर महानामव्रत ब्रह्मचारी, एम्. ए. डी-लिट् महोदय ने लिखा है—

"सन्तदासजी का 'ब्रह्मवादी ऋषि और ब्रह्मविद्या' ग्रन्थ आज भी पढ़ता हूँ, आजीवन पढ़ूँगा। शताब्दी के बाद शताब्दियों तक मनुष्य पढ़ेंगे। ग्रन्थ को पढ़ने से ही अनुभव होता है कि आचार्य शंकर की भांति इनकी मनीषा और ज्ञान प्रतिपृष्ठ में भास्वर होकर वर्त्तमान है। आचार्य शंकर ने बुद्धदेव के मत का खण्डन किया है। इन दोनों महामानव का एकत्र दण्डायमान होकर आलिङ्गन-बद्ध होने से कैसा दृश्य होता है यदि यह देखने की इच्छा किसी की हो तो उनसे कहूँगा कि व्रजविदेही सन्तदास महाराज का वे दर्शन करे। शाक्यसिंह का त्याग और शंकराचार्य का ज्ञान मानों एकाधार में मिलित हैं। इन महामानव के त्याग-तपश्चर्या की वर्तिका तमसाच्छन्न सभ्यतामें पथ-प्रदर्शिका हो। उनका आस्वादित अमृत मृत-बंगला को पुनः सञ्जीवित करे।..." [जन्मशत-वार्षिकी के उपलक्ष्य में श्रीसुदर्शन पत्रिका की श्रीसन्तदास जयन्ती संख्या (आषाढ़, बंगला सन १३६६)

श्रीताराकिशोरजी ने गृहस्थाश्रम में रहते समय उनके गुरुदेव श्रीरामदासजी के बृन्दावन आश्रम में मन्दिर निर्माण कराकर श्रीश्रीराधाकृष्ण युगलविग्रह की प्रतिष्ठा कराई। श्रीरामदासजी ने स्वयं प्रतिष्ठाकार्य किया था। श्रीताराकिशोरजी ने आश्रम में कुछ पक्के घर भी बनवाये। फिर श्रीरामदासजी के अभिप्राय अनुसार उनकी अनुमति से उस आश्रम के निकट ही एक विस्तृत जमीन श्रीरामदासजी के नाम से खरीदकर उस जमीन में बृहदाकार नूतन मन्दिर और आश्रम का निर्माणकार्य आरम्भ किया। वे कलकत्ते से रुपये भेजते थे और उनके गुरुदेव श्रीरामदासजी की देख-रेख में मंदिर और आश्रम का निर्माण होता था। निर्माणकार्य सम्पूर्ण होने से पहले ही श्रीरामदासजी का देहान्त हो गया। तब ठेकेदार के ऊपर भार देकर वे निर्माणकार्य चलाने लगे। इस कार्य में बहुत रुपयों का कर्जा भी हो गया। लगभग सात वर्ष में निर्माणकार्य समाप्त हुआ और सन् १६१५ के तारीख १७ मई, सोमवार, अक्षय तृतीया के दिन श्रीताराकिशोरजी ने मन्दिर की प्रतिष्ठा कराई। इस समय पुराने आश्रम में प्रतिष्ठित श्रीराधाकृष्ण युगलविग्रह को उन्होंने नये आश्रम में लाकर स्थापित किया। इस प्रतिष्ठा के उपलक्ष में उन्होंने बृहत् उत्सव किया। प्रतिष्ठा के समय श्रीरामदासजी के उपस्थित समस्त शिष्यों ने सभा करके सर्वसम्मति से श्रीताराकिशोरजी को सेवायत बनाया।

प्रतिष्ठा के पश्चात् वे सेवापूजादि की अच्छी व्यवस्था करके कलकत्ता लौट आये, लेकिन उनके मनप्राण यहाँ ही पड़े रहे। वे

अविलम्ब ही यहाँ आकर स्थायी रूप से रहने की बलवती आकाँक्षा लेकर ही कलकत्ता लौटे। संसार त्याग करके श्रीबृन्दावन के गुरु-स्थान में रहकर साधन-भजन करने का संकल्प उनका बहुत दिन पहले से ही था। गुरुदेव ने अनुमति नहीं दी थी, समय नहीं हुआ संसार में रहकर उनको और भी बहुत काम करना होंगे, यह कह उनको उन्होंने निवृत्त किया था। गुरुदेव ने यह भी कहा था कि नये आश्रम और मन्दिर का निर्माण कार्य समाप्त होने से वे स्वयं वहां जाकर बैठेंगे और श्रीताराकिशोरजी को भी संसार से छुड़ाकर अपने पास रखेंगे। श्रीताराकिशोरजी इस आप्तवाक्य के ऊपर दृढ़ विश्वास रखकर संसार का यथाकर्त्तव्य करते हुए उपर्युक्त दिन की प्रतीक्षा करने लगे। सम्भवतः बहुत रुपये कर्ज न रहने से वे प्रतिष्ठा के अनन्तर कलकत्ता नहीं लौटते। कर्जा (ऋण) मुक्ति का परिपन्थी है, इसलिये कर्जाशोध के ऊपर वे सदा ही गुरुत्व आरोप करते थे। वास्तव में गुरुकृपा से सत्वर ही कर्जा अदा हो गया। केवल बृन्दावन के ठेकेदार का कर्जा ही नहीं सर्वप्रकार का कर्जा शोध करके, संसार का सब कर्तव्य समाप्त करके, सर्वप्रकार बन्धन शून्य अवस्था में सब कुछ त्याग करके उन्होंने सस्त्रीक श्री बृन्दावन के लिये यात्रा की।

उनको संसार-बन्धन तोड़कर जाना नहीं पड़ा, सब बन्धन छूट गये, संसार ने ही उनको छोड़ दिया। यह जिस प्रकार से हुआ, वह भी वर्णन किया जा रहा है। मनुष्यों के चित्त को हमलोग जितने छोटे समझते हैं, वास्तव में वे इतने छोटे नहीं हैं, विश्व मानव के

चित्त के साथ वास्तव में विश्व के हों, साथ "सूत्रे मणिगणा इव" चित्तों के योग हैं और इस योग का कारण आसक्ति नहीं है। यह योग स्वाभाविक, नित्य, अविनाशी है। अतः साधक के चित्त के आसक्ति शून्य होने से भी दूसरे किसी की यदि उनके प्रति आसक्ति, उनसे कुछ पाने की आशा, उनसे न्यायतः कुछ पायेगा ऐसे वलवान् संस्कार आदि रहें, वह यदि इन सब कारणों से उन को प्रवलभाव से आकर्षित करते रहे, तो त्यागी साधक के चित में विक्षेप उत्पन्न होना अवश्यम्भावी है और शुद्ध चित्त में उसका अनुभव अधिकतर होता है। अतः किसी साधक के चित्त के सम्पूर्ण अनासक्त होने के साथ-साथ यदि इन सब वाह्य कारणो का भी अवसान हो तो उनको संसार त्याग का यथार्थ समय और उसकी सम्पूर्ण अनुकूल अवस्था उपस्थित हुई है समझना होगा। ऐसा ही उनके सम्बन्ध में हुआ था।

सात वर्ष पहले सन् १९०८ ई० में उनकी पैतृक सम्पति में उनका जो अंश था, उसे एक दानपत्र के द्वारा उन्होंने अपने भाइयों को समान अंश में भाग करके दे दिया था। इस समय (सन् १९१५ ई० में) पावना, वरिशाल आदि बाहर के बहुत स्थानों में बड़े-वड़े मुकदमों में उनको जाना पड़ा और इन सब मुकदमों में हजारों रुपये उन्होंने अर्जित किये। इस वर्ष के वर्षाकाल में देश में भीषण दुर्भिक्ष हुआ। इसलिये देश के बहुत लोगों ने उनके पास सहायतार्थ प्रार्थना-पत्र लिखे। उन्होंने भी सबको प्रार्थना के अनुसार दान किया। उनके दान का यह विशेषत्व हम लोगों ने लक्ष्य करके देखा

है कि अभावग्रस्त मनुष्यों के सहायता-प्रार्थी होने से वे उनके अभाव को मिटाने योग्य दान ही करते थे।

जेठ से भादों महीना तक चार महीने के अन्दर उन्होंने इतना संग्रह किया कि देश के दुर्भिक्षपीड़ीत लोगों को बहुत रुपये दान करने पर भी आश्रम निर्माण के लिये ठेकेदार के सब रुपये चुका दिये।

अनन्तर भाद्र मास में दुर्गापूजा की छुट्टी से पहले (अगस्त १९१५) जिसदिन हाईकोर्ट को छोड़ कर आये, उस दिन वहाँ जो दृश्य देखा गया था वह भूलने को नहीं है। अपने आदर्श चरित्र के कारण नवीन प्रवीण सब वकीलों के लिए वे श्रद्धा-प्रीति के पात्र थे। इन श्रद्धा और प्रीति के बन्धन को तोड़कर जिसदिन उन्होंने इस वकील समाज से चिरकाल के लिये विदा लेनी चाही उस दिन वहां जो श्रद्धापूत, अश्रुसजल, विषादमलिन भाव का संचार हुआ था वह वर्णनातीत है। प्रत्यक्षदर्शी कलकत्ता हाईकोर्ट के प्रधान विचारपति (उस समय वे वकील थे) सर मन्मथनाथ मुकर्जी ने बंगला सन् १३४४ की श्रावण संख्या 'श्रीसुदर्शन' पत्रिका में बंगला भाषा में लिखा है (उसका हिन्दी अनुवाद यह है) —

'१९१५ खीष्टाब्द के अगस्त महीने में जिस दिन उन्होंने (श्री ताराकिशोरजी) हाईकोर्ट को परित्याग किया, उस दिन की बात हमलोग कभी नहीं भूलेंगे। वे एक मुकदमा समाप्त करके लाइब्रेरी में आकर बैठे, हम लोगों ने सुना कि वे और यहां नहीं आवेंगे,

संसार परित्याग कर श्री बृन्दावन चले जायेंगे। हम लोग तब एक के बाद एक उनके समीप जाकर उनसे यथारीति अभिवादन करके विदा लेने लगे। इस समय सर रासबिहारी घोष धीरे-धीरे उनके समीप आकर उनके पदरज लेने को उद्यत हुआ। श्रीताराकिशोरजी इसमें बाधा देकर बोले—'क्या कर रहे हैं, आप मुझसे वयोज्येष्ठ हैं।' सर रासबिहारी घोष ने उत्तर में कहा – उम्र में बड़ा होने से क्या होता है, आप मुझसे कितने बड़े हैं यह मैं आपको समझा नहीं सकता, आप मुझको अपने चरणों की रज दीजिये।'

उक्त कलकत्ता हाईकोर्ट के प्रधान विचारपति सर मन्मथनाथ मुकर्जी के दो भाषण इस प्रसंग में उद्धृत करता हूँ—

(१) 'फारवड' पत्रिका में उनके भाषण के बारे में लिखा है, 'श्रीयुक्त एम० एन० मुकर्जी ने श्रीयुक्त चौधुरी को प्रथम श्रेणी के वकील के रूप में व्यक्त किया है। यह भी उन्होंने कहा है कि जब वे (श्री चौधुरी) और स्वर्गीय सर रासबिहारी घोष किसी मुकदमे में एक दूसरे के विरुद्ध वकील के रूप में उपस्थित होते थे तब सर रासबिहारी घोष भी अत्यन्त सतर्कता और मनोयोग के साथ काम करते थे। चौधुरी महाशय जिस दिन सब छोड़ कर साधु जीवन के लिये चले थे वह दिन सभापति महोदय को स्पष्टरूप से स्मरण है। चौधुरी महोदय ने १ बजकर ४५ मिनट तक एक अपील मुकदमा का बहस समाप्त करके बार लाईब्रेरी में आकर वकील भाइयों से विदा ग्रहण की। इस समय सर रासबिहारी घोष ने भी, जो कभी भी किसी के निकट मस्तक नहीं झुकाते थे,

चौधुरी महाशय की चरण रज ग्रहण की।.................*

† (२) फारवर्ड पत्रिका में उनके भाषण के सम्बन्ध में लिखा है उक्त प्रधान विचारपति महोदय ने कहा—' मि० चौधुरी जीवन के परवर्त्ती काल में कैसी वृत्ति का अवलम्बन करेंगे उनके बाल्यजीवन के प्रारम्भ में ही उसका यथेष्ट आभास पाया गया था। छात्र-जीवन में समुज्ज्वल प्रतिभा का परिचय देकर उन्होंने

*"........Sir M. N. Mukherjee characterised Mr. Chowdhury as a first class lawyer who commanded careful attention even from the late Sir Rashbehari Ghose when the two represented opposite parties. The President distinctly remembered the day when Mr. Chowdhury left the profession for the life of a saint. Mr. Chowdhury argued a second appeal till 1-45 P. M., came to the Bar Library and took farewell of brother lawyers. Even Sir Rashbehari Ghose who never bowed his head to anybody took the dust of Mr. Chowdhury's feet ...." (Extract from The Forward—Town edition dated 1st December, 1935).

†"..........From his earliest boy hood" said the Chief Justice, "Mr. Chowdhury gave ample indications of the career that was to be his in the later part of his life. After a brilliant University career he joined this court as a Vakil and soon acquired for himself a name and a fame as a learned, acute and

विश्वविद्यालय की शिक्षा समाप्त की थी। तदनन्तर उन्होंने इस अदालत में वकील के रूप में योगदान किया और अति शीघ्र ही सुविज्ञ, तीक्ष्णधी तथा सुयोग्य वकील के रूप में सुनाम और सुयश अर्जन किया। वे जिस प्रकार उज्ज्वल गुणावली और विधिदत्त शक्ति के अधिकारी थे, उनके जीवन में अन्यथा नहीं हो सकता था। किन्तु उनके हृदय के सुगभीर प्रदेश में आध्यात्मिक ज्ञान-लाभ के लिये निरन्तर जो बुभुक्षा और तृष्णा सुगुप्त थीं उसके कारण वे कभी तृप्त नहीं रह सकते थे और इसीके लिये ही उन्होंने जीवन भर सत्य के अन्वेषण में क्रमशः अधिकतर प्रवल और अक्लान्त चेष्टा की थी। वे जैसे अपने अवलम्बित वकालत के कार्य में उत्तरोत्तर अधिकतर प्रतिष्ठा लाभ करते जाते थे, वैसे ही जिस उच्च ज्ञान के लाभ से उनके स्रष्टा का सान्निध्यलाभ किया जा सकता है उस ज्ञान के अनुसन्धान में उनकी अन्तरात्मा सदा नियुक्त रहती थी।

इस अदालत में २६ वर्ष वकील के रूप में कार्य करके जिस समय उन्होंने गौरव के अति उच्च आसन का लाभ किया था

---

able lawyer. With the brilliant parts that were his own and the gifts which Providence had endowed him with, he could not but do so. But all along he had concealed in the inner depths of his mind a hunger and thirst for spiritual knowledge which never allowed him to remain satisfied but goaded him on to more and more vigorous and persistent

और वे अति उत्तम स्वास्थ्य का भोग कर रहे थे उस समय ही मि० चौधुरी ने गृहस्थाश्रम का त्याग करके हम सबको चमत्कृत किया था। जिस तत्परता और प्रफुल्लता के साथ वे अन्तर के आह्वान से प्रस्तुत हुए और सबको अत्यन्त अर्थकरी रूप में प्रतीयमान वकालत के व्यवसाय को त्याग कर चले गये थे उसका दृष्टान्त नहीं है। इस दृष्टान्त से जो वास्तविक शिक्षा प्राप्त की जा सकती है वह मानवमात्र के प्रणिधानग्राग्य है। उन्होंने बृन्दावन जाकर भगवच्चिन्ता और भगवदाराधना में मन-प्राण समर्पण किये थे और २० वर्ष वृन्दावन तथा अन्यान्य स्थानों में धर्मजीवन व्यतीत किया था। इस समय के अन्दर उन्होंने अध्यात्म-क्षेत्र में जिस उच्चावस्था का लाभ किया था

---

efforts in a life-long search for truth. While attaining greater and greater eminence in the profession at the Bar which he had adopted as his own, his inner mind always continued to remain engaged in seeking further higher knowledge which alone can enable a man to approach his Maker.

After practising as a lawyer in this court for nearly 26 years and at a time when he was at the height of his glory in the profession and in the best of health, Mr. Chowdhury startled us all by renouncing the world. The readiness and the cheerfulness with which he responded to the call that came from within and gave up what seemed

उसको आध्यात्मिक मार्गावलम्बी साधुओं ने यथायथ रूप से स्वीकार किया है।'

इसके पश्चात् वे दो मास और गृहस्थाश्रम में रहे। जो सब अवश्य-कर्त्तव्य थे, उन सब कर्त्तव्यों को समाप्त करने के लिये जितने दिन लगे, उतने दिन मात्र वे रहे। इस समय एक चिन्ता उनके मन में उदित हुई। देश के बहुत आत्मीय स्वजनों को और बहुत दूसरे लोगों को भी वे नियमित रूप से आर्थिक सहायता करते थे। उन्होंने विचार किया कि उनलोगों ने इतने दिन सहायता प्राप्त की है, अब मेरे अचानक चले जाने से आर्थिक सहायता बन्द हो जाने के कारण वे लोग कष्ट में पड़ेंगे। तब ये लोग मेरे संसार-त्याग के प्रति सहानुभूतिसम्पन्न नहीं हो सकेंगे अथवा उसकी साफल्यकामना नहीं करेंगे, सम्भवतः

---

to everybody a most lucrative practice, was unique and almost unparalleled and is an object-lesoon which humanity my well take note of. He retired to Brindaban and devoted himself heart and soul to meditation and worship and pursued there and at other places a spiritual career for a period of 20 years during which his eminence in that line was duly recognised by those who belonged to it.... ....'(Extract from the Amrita Bazar Patrika—Town edition, dated 12th. November 1935).

कोई-कोई मेरे लौट आने की प्रार्थना भी करेंगे। ये सब मेरे वैराग्य के पथ में तथा साधन में बाधा-स्वरूप होंगे।' ऐसा सोचकर उन लोगों को एक ही साथ कुछ अधिक अर्थ सहायता करके उन सब से अनुमति लेकर बृन्दावन जायेंगे, ऐसा उन्होंने सङ्कल्प किया। अतः वे देश के ग्राम-ग्राम में उन सब के पास जाकर मिले और जिसका जैसा प्रयोजन था उसी के अनुसार प्रत्येक को एक साथ कुछ अधिक परिमाण में अर्थ-दान कर आये। जो लोग ऋण के लिये कष्ट पाते थे, उन लोगों के ऋण तो चुका ही दिये अधिकन्तु कन्या का विवाह और पुत्र का उपनयन आदि जिसके जो भी प्रयोजन थे, उन सबके लिये भी दान कर आये। जिन लोगों को मासिक सहायता देते थे उन सबको भी एक साथ कुछ अधिक दान किया। इस प्रकार से सब प्रार्थियों को सन्तुष्ट करके मधुर वाक्यों द्वारा उन सबके पास से विदा लेकर चिरकाल के लिये चले जाने की अनुमति ले आये।

देश से कलकत्ते में लौटकर ही कार्तिक मास के अन्त भाग में गृहस्थाश्रम से चिरकाल के लिये विदा लेकर श्रीताराकिशोरजी ने बृन्दावन के लिये यात्रा की। रुपये पैसे आदि का इस प्रकार से दान किया कि श्रीबृन्दावन पर्यन्त जाने के लिये तीसरे दर्जे का रेल का किराया तक नहीं रहा। ग्रन्थ, आलमारी आदि घर की सब मूल्यवान् वस्तु पहले ही बेच चुके थे, अवशिष्ट जो कुछ थे, वे सब बन्धु-बान्धव, आश्रित-जन आदि उपस्थित सब

को वितरण कर दिये। * सरस्वती स्कूल के भूतपूर्व मुख्य-पण्डित श्रीजानकीनाथ काव्यतीर्थ. साहित्य-शास्त्री महोदय उनके गृहस्थ-संसार त्याग के समय उस स्थान पर उपस्थित थे। उन्होंने लिखा है—"उस दिन मानो मैंने पुनः भगवान् बुद्धदेव की प्रव्रज्या अपनी आँखों से देखी। घर-द्वार गाड़ी सब सज्जित थे। बन्धु-बान्धवों का यदिच्छा दान करके उपस्थित सब से वे बोले 'तुमलोगों में से जिसकी जो आवश्यकता हो ले जाओ।' उस समय उनके कपड़े के एक कोने में एक मनुष्य ने कुछ नोट बाँध दिये थे; इसके द्वारा ही श्रीवृन्दावन जाने का पाथेय निर्वाह हुआ था। भाव में विह्वल रहने से उस समय उनको यह मालूम नहीं हुआ।"

निष्किञ्चन अवस्था में श्रीबृन्दावन में वास कर भिक्षा के द्वारा श्रीठाकुरजी की सेवा चलाते हुए अपने गुरुस्थान में रहकर भगवद्भजन के द्वारा कालातिपात करेंगे ऐसा मनोभाव लेकर उन्होंने श्रीबृन्दावन की यात्रा की। आदर्श सहधर्मिणी चिर दिन की सेविका स्त्री संग में चलीं। यात्रा के कुछ समय पहले

---

* "संसार की समस्त सामग्री पुस्तकादि तथा अन्यान्य वस्तु बेचकर जो अर्थ सञ्चित हुआ और उनका अपना जो कुछ अर्थ था, वह सब ही आश्रित और प्रतिपाल्यों को दान कर एकदम निःसम्बल होकर उन्होंने सस्त्रीक श्रीबृन्दावन गमन किया।" (बं० सन् १३४४, श्रावण संख्या "श्री सुदर्शन" पत्रिका में कलकत्ता हाईकोर्ट के प्रधान विचारपति सर मन्मथनाथ मुकर्जी का लिखित "ब्रजविदेही स्मरणे" निबंध)।

उनके बड़े गुरुभाई श्रीअभयनारायणजी ने उनसे पूछा कि श्रीश्रीठाकुरजी की सेवा निरुद्वेग से चले, ऐसी व्यवस्था क्या उन्होंने कुछ की है। श्रीताराकिशोरजी ने उत्तर में कहा — 'दादाजी, यह आशीर्वाद दें कि भगवान को सन्दूक में बन्द करना न पड़े।'*

श्रीबृन्दावन में श्रीगुरुस्थान में रहकर वे कठोर तपस्या करने लगे। लगभग चार वर्ष के बाद एक अलौकिक घटना का उपलक्ष्य करके उन्होंने वैराग्याश्रम में प्रवेश किया। बंगला सन् १३२६ (ई० १९१९) के झूलन पूर्णिमा के दूसरे दिन (भाद्र कृष्ण प्रतिपद) उन्होंने उत्सव के उपलक्ष्य में बृन्दावन के संत-महन्तों को आश्रम में निमन्त्रण दिया था। निमन्त्रण में आकर सब सन्त-महन्तों ने मिलकर कल्पनातीत रूप से अचानक श्रीताराकिशोरजी को संन्यास दिया और उनका नाम रखा "सन्तदास"। उनलोगों ने एकमत होकर समादरपूर्वक उनके गले में महन्ताई की माला और चादर पहना दी। पूर्व दिन (पूर्णिमा के दिन) रात्रि में उनके गुरुदेव श्रीरामदासजी ने उनको दर्शन दिए थे और "नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्" गीता के इस वाक्य को उच्चारण करके उनके अन्तर में यह भाव संचार कर दिया था कि 'जो कुछ करोगे वह तुम कर रहे हो ऐसा नहीं समझना, तुम्हारा सब काम मैं ही करूँगा।" अनन्तर कुछ समय तक प्रसन्नदृष्टि से उनके प्रति अवलोकन कर

---

* अर्थात् अर्थ को ही भगवान् के रूप में न देखूँ — भगवन्निर्भरता को छोड़कर अर्थ के ऊपर निर्भर न करूँ।

वे अन्तर्हित हो गये। समवेत सन्त-महन्तों ने जब उनको महन्त पद देने का प्रस्ताव किया, तब गतरात्रि के गुरुदेव का वह वाक्य और विग्रह प्रतिष्ठा के बाद गुरुदेव ने जो "महन्ताई भी मिलेगी" कहकर वरदान दिया था, ये दोनों घटनायें युगपत् ही उनके स्मृतिपथ में उदित हुई। इन घटनाओं ने उनको रोमांचित और अभिभूत कर दिया। उनके साथ उनकी स्त्री के रहते हुए भी बृन्दावन के प्राचीन सन्त-महन्तगण एकमत होकर संन्यास देकर साथ ही साथ उनको महन्ताई भी देने का प्रस्ताव करें ऐसी बात की कल्पना करना भी कठिन था। वास्तव में यह एकान्त अलौकिक, स्वप्नातीत घटना थी। ये सब ही असीम शक्तिमान् परमात्मस्वरूप उनके गुरुदेव की ही लीला, सब ही परमात्मरूपी गुरुदेव ही कर रहे हैं और करेंगे, उनके अपने कुछ भी करने या सोचने की आवश्यकता नहीं है ऐसी बुद्धि में प्रतिष्ठित रहकर उनके यह संन्यास और महन्त पद का ग्रहण करना ही श्रीगुरुदेव का अभिप्राय है, इसीलिये ही जो पूर्वरात्रि में उन्होंने दर्शन दिये थे और उपदेश किये थे यह सुस्पष्टरूप से अनुभव करके सन्त-महन्तों के प्रस्ताव में और किसी बात में वे आपत्ति नहीं कर सके। संन्यास के बाद स्त्री का उनके साथ रहना नियम-विरुद्ध था, इसलिये स्त्री को उन्होंने काशी के मकान में भेज दिया। काशी का यह मकान पहले ही स्त्री के नाम से उन्होंने दानपत्र करके रखा था। महन्त होने पर (गुरु की गद्दी में बैठने पर) कई दिन पश्चात् (जन्माष्टमी के दो दिन पश्चात्) उनको व्रजपरिक्रमा में जाना पड़ा।

एक वर्ष के बाद ईसवी सन् १९२० में कुम्भमेला का समय उपस्थित हुआ। इस कुम्भमेले में भी नियमानुसार वे गये। इस कुम्भमेले में उपस्थित भारतवर्ष के बड़े-बड़े महन्तों ने मिलकर उनको उनके गुरु श्रीरामदासजी के "ब्रजविदेही महन्त और वैष्णव चार सम्प्रदाय के श्री महन्त" पद पर अभिषिक्त किया।

इसके पश्चात् उनके हजारों शिष्य हुये हैं। सिलेट में और हवड़ा शिवपुर में बहुत बड़े आश्रम और मन्दिरों का निर्माण कराके उनमें विग्रहों की प्रतिष्ठा की है। भुवनेश्वर में आश्रम निर्माण कार्य का प्रारम्भ कर गये थे, बाद में वहाँ आश्रम और मन्दिर का निर्माण हुआ और विग्रहों को प्रतिष्ठा हुई। शिवपुर आश्रम प्रतिष्ठा के अवसर पर उन्होंने "द्वैताद्वैत सिद्धान्त" नामक एक एक छोटा ग्रन्थ लिखा है, जिसमें निम्बार्क वेदान्त का सार उपदिष्ट हुआ है। इसका हिन्दी में अनुवाद और मुद्रण भी हुआ है। ब्रह्मसूत्र के विभिन्न भाष्यों के अनुयायी विभिन्न सम्प्रदायों में परस्पर जो मतविरोध है, इसको मिटाने के उद्देश्य से भाष्यों के किन-किन स्थानों में क्या-क्या विरोध हैं और कौन-कौन स्थानों में एकमत है, ये सब दिखाकर उन्होंने "भेदाभेद (द्वैताद्वैत) सिद्धान्त एवं श्रीशंकराचार्य प्रभृति भाष्यकारगण" नाम से भी एक ग्रन्थ लिखा है। वह भी हिन्दी में अनूदित होकर मुद्रित हुआ है। हमलोगों ने उनसे बहुत आध्यात्मिक प्रश्न किये और उन्होंने जो उत्तर दिये थे, उन सब प्रश्नोत्तरों को "गुरु-शिष्य संवाद" नामक एक ग्रन्थ में मुद्रित किया गया है। यह अति उपादेय ग्रन्थ है। एकमात्र इस

ग्रन्थ के पढ़ने से दार्शनिक तत्त्वों का पूर्ण ज्ञान हो सकता है। इस ग्रन्थ को भी हिन्दी में अनुवाद कर मुद्रित किया गया है।

श्रीताराकिशोरजी के परिचय प्रसंग में संक्षेपतः इतना ही यहाँ पर लिखा गया है। उनका एक बृहत् जीवन-चरित्र मैंने बङ्ग-भाषा में लिखा है, उसका हिन्दी अनुवाद अभी तक नहीं हुआ है; बंगला भाषा जाननेवाले उसको पढ़ कर उनका पूरा जीवनवृत्तान्त जान सकेंगे।

—::•::—

श्री ताराकिशोरजी की दीक्षा

श्रीरामदासजी से श्री ताराकिशोरजी की दीक्षा-प्राप्ति का विवरण उन्होंने स्वयं श्रीरामदासजी के जीवन-चरित्र में लिखा है। उसमें श्रीरामदासजी की अपूर्व महिमा व्यक्त हुई है, इसलिये उस विवरण को यहाँ वर्णन करता हूँ।

जो प्रयाग कुम्भमेला बंगला सन् १३०० (सम्बत् १९५०, खृष्टाब्द १८९४) के माघ मास में हुआ था उसी मेले में पहले पहल श्रीताराकिशोरजी ने श्रीरामदासजी का दर्शन पाया था। इससे पहले उन्होंने एक योगिसम्प्रदाय में प्रविष्ट होकर लगभग बारह वर्ष योगियों के अधीन रहकर प्राणायामादि योग-साधन किया था। इसके पश्चात् उनके मन में यह धारणा हुई कि सम्प्रदाय में जितने साधन हैं, उतने उनको प्राप्त हो गये हैं, यहाँ रहकर उनका ब्रह्म साक्षात्कार लाभ नहीं होगा, क्योंकि इस सम्प्रदाय में उन्होंने कोई ऐसा पुरुष नहीं देखा, जिनको ब्रह्म साक्षात्कार लाभ हुआ हो। इसमें उनका सन्देह नहीं था कि इस सम्प्रदाय में जो साधनाएं और क्रियाएं प्रचलित हैं, वे विशेष कल्याणकर हैं किन्तु उन सब के द्वारा किसी को ब्रह्मसाक्षात्कार लाभ हुआ है या हो सकता इस विषय में उनका विश्वास तिरोहित हो गया। इसलिये जो यथार्थ ब्रह्मज्ञ हुए हैं और जिनकी कृपा से वे ब्रह्मसाक्षात्कार ला

कर सकेंगे, ऐसे सद्‌गुरु का आश्रय प्राप्त होना उनके लिये अत्यन्त आवश्यक है ऐसी बुद्धि से प्रेरित होकर वे सद्‌गुरु-लाभ करने का उपाय सोचने लगे।

श्री विजयकृष्ण गोस्वामीप्रभु के साथ बहुत पहले से उनका घनिष्ठ परिचय था। वे इस कुम्भमेले के लगभग बारह वर्ष पहले सद्‌गुरु लाभ कर कृतार्थ हुये थे। इस कुम्भमेले के पूर्व उनके बहुत शिष्य भी हो चुके थे। श्रीताराकिशोरजी भी समय-समय पर उनके दर्शन करने के लिए जाते थे। उनके साधन का वेग इतना अधिक था कि उन्हें कुछ दिनों के पश्चात् जाकर दीखता था कि उतने दिनों में उनको अवस्था का परिवर्तन हो गया है। वे यह लक्ष्य करते थे कि उनके नेत्रों की दृष्टि तथा मुखश्री का परिवर्तन बड़ी ही शीघ्रता से होता था। यह सब परिवर्त्तन उनकी साधनावस्था को उन्नति का सूचक था। साधकों में ऐसा प्रायः नहीं देखा जाता है। इस कारण से वे समझते थे कि गोस्वामीप्रभु बड़े ही असाधारण पुरुष थे, किन्तु इन उन्नतियों के देखते हुए भी वे उस समय पूर्ण ब्रह्मज्ञ थे ऐसा उन्हें प्रतीत नहीं होता था। उनको अति उच्च अवस्था के पुरुष जानते हुए भी एक उच्च साधक ही मानते थे। ये सम्पूर्ण सिद्धमनोरथ हुए थे ऐसा वे नहीं समझते थे और इसलिए उनको अपने गुरु के रूप में पाने की इच्छा नहीं हुई।

श्रीताराकिशोरजी के मन की ऐसी स्थिति में एकदिन अपने अन्तःकरण की अत्यन्त व्याकुलता के समय देवकृपा से उन्हें

एक एकाक्षरी बीजमन्त्र प्राप्त हुआ और उन देव ने यह उपदेश दिया कि उस मन्त्र का साधन करते-करते उन्हें ब्रह्मज्ञ सद्‌गुरु-लाभ होगा। तब से वे उसी मन्त्र को जपने लगे। एकदिन वे अर्धरात्रि के समय कलकत्ते के अमहर्स्ट स्ट्रीट के पार्श्वस्थित एक मकान के बरामदे में अकेले बैठकर सोच रहे थे कि इतने में अध्यात्मतत्त्व के विषय में एक विशेष प्रश्न उनके मन में उठा। उसी निभृत स्थान पर बहुत देर तक बैठकर उन्होंने उसका उत्तर विचारा, किन्तु कोई सन्तोषजनक उत्तर उनको नहीं मिला। किसी प्रकार से एक सिद्धान्त करके वे अपने घर लौट गये। इसके बाद दो-तीन मास पश्चात् माघ महीने में एक मित्र के अनुरोध पर उनके साथ वे पूर्वोक्त कुम्भमेला देखने के लिये प्रयाग में गये। वहाँ जाकर श्रीविजयकृष्ण गोस्वामीप्रभु के ताँबू में उपस्थित होकर उन्होंने उनको अभिवादन किया और वे भी प्रसन्न होकर आशीर्वाद करके बोले—'यहाँ आये हैं, यह बहुत अच्छा हुआ है। यहाँ अनेक महात्मा पुरुषों का समागम हुआ है, उनमें से किसी की भी शुभदृष्टि पड़ने से उद्धार हो जायेंगे।' उनके मित्र जो उनको अपने साथ वहाँ ले गये थे उनका नाम श्रीहरिनारायण राय था। उनके बड़े भाई का नाम श्रीअभयनारायण राय था, जिन्होंने इसी कुम्भमेले के चार-पाँच वर्ष पहले श्रीरामदास जी से दीक्षा ली थी और वे उन दोनों के पहुँचने के पहले से गोस्वामी-प्रभु के ताँबू में रहते थे। श्रीताराकिशोरजी और श्रीहरिनारायण-जी ने जिस समय गोस्वामीप्रभु के ताँबू में उपस्थित होकर उनको प्रणाम किया, ठीक उसी समय श्रीअभयनारायण जी भी वहाँ आ

उन दोनों को देखकर प्रसन्न हुए और बोले-"अभी मैं श्रीबाबाजी महाराज के पास से आ रहा हूँ, उनसे मैंने पूछा था-"मेरे छोटे भाई के यहाँ आने की बात थी, किन्तु वह आज तक नहीं आया, क्या वह आवेगा ?" उत्तर में श्रीबाबाजी महाराज ने कहा कि-'वह अभी आ रहा है।' "चलिये, आप दोनों उनका दर्शन कर आवें।" श्री ताराकिशोर जी ने पहले ही सुना था कि श्री अभयनारायण जी ने कई वर्ष पहले श्रीरामदासजो से दीक्षा ली थी। किन्तु वे किस प्रकार के साधु हैं वे यह कुछ भी नहीं जानते थे। श्रीअभयनारायण जो से भी पहले इस विषय में उनकी कभी कोई बातचीत नहीं हुई थी। श्रीअभयनारायणजी के साथ जाकर उन्होंने देखा कि एक बड़े छाते के नीचे जटाजूटधारी अति तेजःपुञ्जकलेवर एक प्राचीन साधु बैठे हुए हैं। श्रीअभयनारायणजी ने सूचित किया कि ये ही उनके गुरुदेव हैं। उन दोनों ने उनको भूमिष्ठ होकर प्रणाम किया। श्रीअभयनारायण जी ने उन दोनों का इस प्रकार परिचय दिया—"यह मेरा छोटा भाई है, जिसके यहाँ आने के विषय में मैंने कुछ देर पहले कहा था और ये मेरे एक मित्र हैं। ये दोनों अभी यहाँ आ पहुँचे हैं।" श्रीरामदासजी ने कहा-"आया तो बहुत अच्छा हुआ" और श्रीताराकिशोरजी की ओर निर्देश करके बोले—"इनका तो मैंने बृन्दावन में दर्शन किया।" वे उसके पूर्व आश्विन मास में श्रीबृदावन गये थे और श्रीहरिनारायणजी भी कुछ दिन पहले श्रीबृन्दावन गये थे, किन्तु उन दोनों में से किसी की भी उनसे भेंट नहीं हुई थी। फिर भी उन्होंने केवल श्रीताराकिशोरजी को

उपलक्ष्य करके क्यों ऐसी बात कही यह उनकी समझ में नहीं आया। इसके पश्चात् वे तीनों श्रीरामदासजी के आसन के समीप बैठे। उनके बैठने पर दो-तीन मास पहले अमहर्स्ट स्ट्रीट के पार्श्ववर्त्ती बरामदे में अर्द्धरात्रि के समय बैठकर श्रीताराकिशोरजी के मन में जो प्रश्न उठा था, वही प्रश्न और उसका उत्तर श्रीरामदासजी ने उनकी ओर ताक कर बताया। उस विषय की कोई बात उस समय उन्हें स्मरण भी नहीं थी इसलिये श्रीरामदासजी के इस प्रकार कहने से उन्होंने अत्यन्त विस्मित होकर सोचा—"यह कैसे आश्चर्य की बात है कि दो-तीन मास पहले निभृत दूरवर्त्ती स्थान में गम्भीर मध्य रात्रि में बैठकर मेरे मन ही मन जो प्रश्न उठा था, वह इनको विदित हुआ है!! उसको इन्होंने कैसे जाना? जान पड़ता है कि मेरे मन में उदित उस प्रश्न को भगवान् ने सुना है और सर्वत्र उनके जनों को भी इसका समाचार मिल गया है। ज्ञात होता है कि ये एक भगवज्जन हैं, जिससे इनको यह विषय ज्ञात हुआ है?' ऐसा सोचकर क्षणमात्र के लिये तो वे बड़े आशायुक्त हुये। फिर वे विचारने लगे—'अच्छा, यदि इनको मेरा जिज्ञासित विषय ज्ञात हुआ है, तो भी इन्होंने मुझको इस प्रकार से क्यों बताया? तब क्या मैं जैसे महापुरुष की आशा से कालक्षेप कर रहा हूँ, ये ऐसे ही महापुरुष हैं और मुझपर कृपा करने के लिये इन्होने आत्म-प्रकाश किया है? जो भी हो मैं अब केवल देखता ही रहूँगा, मुँह से कुछ भी नहीं कहूँगा।' ऐसा निश्चय कर उन्होंने और दो-चार मिनट बैठकर उनकी प्रत्येक बात सुनी। तत्पश्चात् गोस्वामी-

प्रभु के ताँबू में लौटकर भोजनादि किया, उसके बाद अन्यान्य साधु-संन्यासियों का दर्शन किया और नाना प्रकार के सत्सङ्ग से उस दिन को व्यतीत किया।

दूसरे दिन प्रातःकाल में श्रीगोस्वामीप्रभु के बहुत से शिष्यों के साथ साधुओं के दर्शनार्थ चले जाने के पश्चात् उनके शिष्य श्रीधरजी चाय पीते-पीते कहने लगे—"गोसाँईजी (गोस्वामीप्रभु) ने इतने शिष्य बनाये हैं यह मुझे अच्छा नहीं लगता है, मानो यहाँ बजार लग गया है, समस्त दिन गोलमाल होता रहता है। उनसे बड़े काठिया बाबा मुझे अच्छे लगते हैं। सुना है कि उनके गुरु ने उनसे कहा है कि चार चेले बनाना, जिसको मानकर उन्होंने चार देश में चार चेले बनाये हैं; और चेलावे नहीं बनाते।' श्रीधरजी की यह बात सुनकर उन्होंने इसे सत्य ही समझा। उनका जो समय-समय पर मस्तिष्क गर्म हो जाता था, तब उनके जी में जो आता था वे वही बकते थे यह श्रीताराकिशोरजी नहीं जानते थे। उनकी इस बात को सत्य मानकर उन्होंने सोचा कि पूर्व दिन उन्होंने जो विचारा था कि श्रीरामदासजी ही वे पुरुष होंगे, जो उनके गुरु होकर उनपर कृपा करेंगे, यह विचार ठीक नहीं है; क्योंकि श्रीधरजी कहते हैं कि वे और चेला नहीं करेंगे। इसलिये उन्होंने अपने पूर्व दिन की चिन्ता को वृथा कल्पना ही समझा। तत्पश्चात् चाय पीकर श्रीअभयनारायणजी, गोस्वामीप्रभु के शिष्य श्रीधरजी, अश्विनी कुमारजी तथा श्रीताराकिशोरजी ये चारों जन साधु-मन्डली की परिक्रमा कर ख्यातनामा साधुओं को विशेषरूप से अभिवादन

करते हुए चले। पहले छोटे काठिया बाबा नाम के और एक साधु को प्रणाम करके श्री रामदासजी के आसन के निकट आकर प्रणाम करके ज्योंही उनके आसन के पास बैठे, त्यों ही वे आप से आप बोले—"मेरे तो पाँच-छः चेले हैं, सुपात्र होने से अब भी चेला बनाता हूँ।" यह बात बिना किसी प्रसंग के उनके अपने आप कहने से श्रीताराकिशोरजी की यह धारणा हुई कि कुछ समय पहले श्रीधरजी की बात से उनके चित्त में जो आशंका हुई थी उसी को दूर करने के लिए उन्होंने उनके लिए ही यह बात कही है। किन्तु उस समय उन्होंने प्रकट रूप से किसी से कुछ नहीं कहा। कुछ देर वहाँ बैठकर वे दूसरे साधुओं के दर्शन करने के लिये चले आए। वे पाँच-छः दिन प्रयाग के कुम्भ-मेले में रहे किन्तु प्रायः प्रत्येक दिन ही श्रीरामदासजी के दर्शन करने जाने पर वे ऐसी कोई न कोई बात कहते थे जिससे जान पड़ता था कि वे अन्तर्यामी थे। उनकी यह धारणा होने लगी कि वे उनपर कृपा करेंगे इसीलिए इस प्रकार का परिचय दे रहे थे। किन्तु उनसे या और दूसरे किसी के निकट इन सब भावों को उन्होंने प्रकट नहीं किया। अनन्तर जिस दिन वे कुम्भ मेले से चले जाने को थे उस दिन उन से बिदा लेने गए। जब वे श्रीरामदासजी को प्रणाम करके चलने लगे तब उन्होंने कहा—"तुम चैत के महीने में बृन्दावन आकर मुझको फिर दर्शन देना।" श्रीताराकिशोरजी बोले—"मैं वकालत करता हूँ, चैत के महीने में कोई लम्बी छुट्टी नहीं है, इसलिये उस समय मैं कैसे बृन्दावन आ सकूँगा? पर आप यदि मुझे खींच लें तो आ सकता

हूँ।" वे मुस्कराकर बोले—"हाँ, तुम को महावीरजी जरूर ले आयेंगे।" उनसे बिदा लेकर गोस्वामीप्रभुजी से भी आज्ञा लेकर वे और श्रीहरिनारायणजी दोनों कलकत्ता लौट आये। किन्तु श्रीरामदासजी के सम्बन्ध में जो कुछ विचार उनके मन में हो रहे थे, उनको उन्होंने किसी के पास प्रकट नहीं किया और दैवप्राप्त मन्त्र का ही साधन उनका चलने लगा।

कुम्भमेला समाप्त होने पर श्रीरामदासजी श्रीवृन्दावन को लौट गये। 'श्रीवृन्दावन दर्शन को जा रहा हूँ' इतना ही अपने मित्रों से कहकर श्रीताराकिशोरजी चैत मास के अन्तिम भाग में श्रीअभयनारायणजी के साथ कलकत्ते से चलकर श्रीरामदासजी के श्रीवृन्दावन आश्रम में उपस्थित हुये। श्रीगरीबदासजी, श्रीमौनीजी, श्री कल्याणदासजी नामक रामानन्दी सम्प्रदाय के पूर्वोक्त साधु और पुष्करदासजी नामक और एक साधु उस समय आश्रम में थे। वे दोनों सायंकाल के पश्चात् आश्रम में पहुँचे और उन्होंने श्रीरामदासजी तथा दूसरे साधुओं को प्रणाम किया। श्रीगरीबदासजी का स्वरूप देखकर श्रीताराकिशोरजी उनपर बड़े श्रद्धान्वित हुये। उनको लगा कि वे मानो शान्ति के समुद्र हैं। श्रीगरीबदासजी ने रात्रि में दाल-रोटी बनाकर उन लोगों को खिलायी। इसबार वे लोग लगभग तीन सप्ताह आश्रम में रहे। नित्य ही बड़ी स्वादिष्ट दाल-रोटी बनती थी, वे लोग आनन्द से प्रसाद पाते थे। चावल (भात) खाने की कोई आकांक्षा उन्हें नहीं होती थी। भोजन के पश्चात् सभी लोग अपने-अपने हाथों से अपना-अपना उच्छिष्ट

उठाते थ और थाली मलकर परिष्कृत करते थे, इस में उन लोगों को कोई क्लेश नहीं होता था। किन्तु भोजनादि में कोई क्लेश न होने पर भी आश्रम में श्रीरामदासजी के कार्य-कलाप देखकर श्रीताराकिशोरजी एकदम हताश हो गये। श्रीवृन्दावन जाने से पहले उन्होंने सोचा था कि वहाँ जाकर देखेंगे—वे अधिकांश समय समाधिस्थ रहते हैं अथवा किसी न किसी अलौकिक भाव से रहकर समय को व्यतीत करते हैं। किन्तु वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि अतिशय साधारण से भी साधारण मनुष्य की भाँति वे कालक्षेप कर रहे हैं। नित्य प्रातःकाल आप स्वयं ही बाजार करने को जाते हैं और निपुणता के साथ दर जाँचकर और चुनचुनकर शाक-भाजी आदि खरीद करते हैं और अपने कन्धे पर रखकर आश्रम में लाते हैं। किसी चेले से कोई वस्तु खरीदवाने पर उससे बड़ी ही कड़ी जाँच-पड़ताल के साथ हिसाब लेते हैं। सेवाकुञ्ज के समीप सड़क के किनारे वे प्रातः सायं बैठते हैं और जितने यात्री उधर से जाते-आते हैं उनमें से कोई एक पैसा, कोई आधा पैसा, कोई पाई की भिक्षा देता है तो वे ले लेते हैं। किसी यात्री के पूरा एक पैसा देने पर वे बड़ा ही प्रसन्नभाव दिखाते हैं। ब्रजवासियों में से कोई-कोई आकर उनके समीप उसी स्थान में बैठकर गाँजा पीते हैं और यात्रियों को मार्ग से जाते देखकर कभी-कभी कहते रहते हैं —"अरे ! ये दूधाधारी बाबा हैं, ये केवल दूध पीकर रहते हैं, इनको कुछ दो।" व्रजवासी यात्रियों से ऐसी बात कहने से वे प्रसन्न होकर हँसते रहते हैं। इसी प्रकार से कुछ पैसे संग्रह कर वे आश्रम

में लाते हैं और उन पैसों को बड़े यत्न से आपने पास रखते हैं, दूसरे किसी को छूने भी नहीं देते हैं, मानो उनकी यह शङ्का लगी रहती है कि कोई चुराकर ले जायेगा। सन्ध्या के पश्चात् आश्रम में बैठकर जब उन लोगों से वार्त्तालाप करते हैं, तब भी भगवत-प्रसङ्ग एकबार भी नहीं करते हैं। वस्तुओं की महार्घता, जल कहाँ का अच्छा है और कहाँ का बुरा, किस धनी ने कब उनको रुपया दिया था, जयपुर का राजा आयेगा और उनके यहाँ नित्य पाँच मूर्तियों के भोजन का प्रबन्ध कर देगा और राजा के मन्दिर की प्रतिष्ठा के समय अवश्य ही उनको बहुत धन देगा--इसी प्रकार की बातें छेड़कर वे व्रजवासियों के साथ गल्प लगाते रहते हैं। कभी सामान्य कारण से अथवा बिना कारण के भी रूठकर वे किसी शिष्य को चिमटे से ही मारने लगते हैं और नाना प्रकार के अश्लील शब्द (जैसे कि तेरी माँ की···तेरी बहिन की···इत्यादि) के द्वारा गाली देने लगते हैं। जो कोई पैसा देता है, उसकी प्रशंसा करने लगते हैं और कोई न देता है तो "अमुक कुछ नहीं देता है वह किसी काम का मनुष्य नहीं है" इत्यादि कहकर उसकी निन्दा करते हैं और साधारणतः श्रीअभयनारायणजी पर बड़ा स्नेह और श्रीताराकिशोरजी पर कुछ कठोर तथा भिन्नभाव दिखलाने लगते हैं। श्रीताराकिशोरजी ने यह भी देखा कि आश्रम नाना प्रकार के सर्पों का वासस्थान है। हनुमानजी की मूर्ति एक छोटी सी कोठरी में स्थापित है। उसके दोनों ओर दो-दो हाथ चौड़ी दो अंधेरी कोठरियाँ हैं। उनमें कितने ही बिलों में गोक्षुर, रक्तवंशी

आदि सर्प रहते हैं। हनुमानजी की उस कोठरी और उसके दोनों ओर के दोनों कोठरियों के सामने एक अल्पायतन बरामदे की भाँति का स्थान है, वह करीब आठ हाथ लम्बाई और चार हाथ चौड़ाई का है। उसके एक ओर एक तख्त लगा हुआ है जिस पर श्रीरामदासजी सोते हैं। एक अति दीर्घकाय रक्तवंशी सर्प हनुमान जी के आसन पर बैठारहता है। एक लाठो के अग्रभाग पर लत्ता लपेट कर रक्खा हुआ है, उस लाठी को हाथ में लेकर उसके अग्रभाग से सर्प को ठेलते हुऐ श्रीरामदासजी कहते हैं—"अरे हट जा, हट जा।" तब वह सर्प हनुमानजी के आसन से उतरकर एक बिल में प्रविष्ट होता है और वे हनुमानजी के शरीर में सिंदूर लगाकर गले में माला पहिना देते हैं। ऐसे विकराल सर्पों के आवासस्थान बरामदे में श्रीरामदासजी रात्रि में अकेले रहते हैं। उन सर्पों के साथ मानो उनका सखाभाव है। आश्रम में जितने छोटे-बड़े वृक्ष तथा लताएं हैं उन सब के निकट वे भोजन करने से पहले नित्य एक खुरपी हाथ में लेकर एक-एक बार जाते हैं और किसी के मूल की मिट्टी थोड़ी खोद देते हैं, किसी के मूल में जल डाल देते हैं और किसी के ऊपर हाथ फेर देते हैं। वे प्रतिदिन ऐसा करते रहते हैं। अपने भोजन की रोटो से कुछ भाग ले टुकड़े टुकड़े कर वे गौरैया आदि पक्षियों के लिये एक स्थान पर फेंक देते हैं और वे तत्काल ही आकर जब खाने लग जाते हैं, तब आप आहार करते हैं। आपने भोजन के पश्चात् श्रीताराकिशोरजी आदि को पुकार कर उनलोगों के हाथ में कुछ-कुछ प्रसाद देते हैं।

उनका एक छोटा घोड़ा था। वह एक दिन ठीक समय पर आश्रम में नहीं आया। श्रीरामदासजी वैशाख मास के मध्याह्न की धूप में निकलकर मैदान, जंगल आदि में घूमते-घूमते उसका अन्वेषण करने लगे। पर जब वह न मिला तो आश्रम में लौटकर उन्होंने कहा—"मेरा घोड़ा चला गया है, कोई बदमाश उसको उड़ा ले गया होगा, अब मैं क्या करूँ?" उस समय उनका पूर्वोक्त डाकू चेला गोसायाँ आश्रम में उपस्थित था। वह वेग से उभय नासिका से दीर्घ-निश्वास परित्याग करके बोला—"बाबाजी महाराज! कुछ चिन्ता मत करो, तुम्हारा घोड़ा आ जायेगा।" श्रीरामदासजी ने कहा—"आ जायेगा?" वह बोला—"हाँ महाराज! ठीक आ जायेगो।" यह सुनकर उन्हें सन्तोष हुआ।

उनका और एक व्यवहार देखने में आया कि खाने की कोई भी वस्तु बहुत थोड़ी सी भी आश्रम में आती तो उसको रत्ती-रत्ती करके भी आश्रम के सब लोगों को बाँट देते थे। अधिक होने से अधिक-अधिक भाग बनाकर बाँटते थे; अन्त में आप कण भर ले लेते थे।

एक दिन सन्ध्या के पश्चात् श्रीअभयनारायणजी, श्रीताराकिशोरजी और कई एक व्रजवासी आश्रम में बैठकर श्रीरामदासजी के साथ वार्त्तालाप कर रहे थे। उन्होंने बात ही बात में कुछ कहा, उसका श्रीताराकिशोरजी ने दृढ़ता के साथ प्रतिवाद किया, तो उन्होंने हाथ जोड़ बालक सा बनकर कहा—"बाबा! मैं बुड्ढा आदमी मूर्ख हूँ, तुम्हारा बालगोपाल हूँ, शास्त्र की बात

नहीं जानता हूँ, तुम समझा दो।" श्रीताराकिशोरजी लज्जित होकर चुप हो गये।

श्रीरामदासजी के इस प्रकार का चरित्र देखकर उनके सम्बन्ध में श्रीताराकिशोरजी प्रयाग के कुम्भमेले से जिस प्रकार की धारणाएँ करके गये थे, वे सब तिरोहित हो गईं। दिन प्रतिदिन उनके नये-नये कामों को देखकर वे समझने लगे कि "ये अति ही साधारण कोटि के आदमी हैं, वे पढ़े-लिखे भी विशेष कुछ नहीं हैं, और इनमें कोई विशेष योगैश्वर्य भी नहीं है।" ग्रामों में जैसे पुराने विषयी आदमी रहते हैं, वैसे ही इनकी स्थिति भी वे देखते थे, किसी प्रकार का पार्थक्य उन्हें नहीं दिखाई देता था। किन्तु साथ ही साथ प्रयाग के कुम्भमेले में इनके ही साथ जो उनकी बातें हुई थीं, जिनके विषय में पहले ही वर्णन कर चुका हूँ, उन पर विचार करने से इनको उस प्रकार साधारण आदमी समझने में भी वे संकुचित होने लगे। एक बार सोचा कि प्रयाग कुम्भमेले में उन्होंने जो कुछ कहा था वे बातें अचानक उनके मुँह से निकल पड़ी होंगी। फिर यह भी सोचा कि यदि उनमें किसी प्रकार का साधनैश्वर्य नहीं रहता तो समस्त साधु-सम्प्रदाय उनको कुम्भमेले में इतने सम्मान के साथ हाथी पर बैठाकर क्यों नहाने को ले गये? एक बार यह भी सोचा कि वयोवृद्ध हैं, ब्रज के तथा चार-सम्प्रदाय के महन्त पद प्राप्त हुए हैं, इसलिए अपर साधु लोग सम्मान करते होंगे। फिर यह भी सोचा कि श्रीविजयकृष्ण गोस्वामीप्रभु ने बताया था कि कुम्भमेले में बहुत सिद्ध महापुरुष हैं और बहुत वयोवृद्ध भी हैं, तो

क्या वे लोग केवल इनके वार्द्धक्य के कारण इनका इस प्रकार से सम्मान करते हैं ? नाना प्रकार के तर्क-वितर्क सब समय उनके मन में उठने लगे। किन्तु उन्होंने किसी के पास ये सब प्रकाश नहीं किये। केवल उनके आचरणों को देखने और अपने मन में तर्क-वितर्क करने लगे। अन्त में एक दिन उन्हें श्रीमद्भागवत की कई बातें अचानक स्मरण आ गयीं। वे विचारने लगे कि "भगवान् श्रीकृष्ण जब श्रीबृन्दावन में लीला करते थे, तब अनेक अलौकिक कर्म करते रहने पर भी वे इस ढङ्ग से उनको करते थे कि कोई भी उनको साधारण बालक के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझता था। यहाँ तक कि ब्रह्मादि देवताओं ने भी उनके चरित्र से मोहित होकर उनकी गणना साधारण मनुष्यों में की थी, अन्त में केवल उन्हीं की कृपा से उन लोगों का भ्रम दूर हुआ था।" श्रीमद्भागवत की इन बातों के स्मरण हो जाने से उन्होंने विचार किया कि "वे यदि ब्रह्मज्ञ होकर ब्रह्मरूप में ही प्रतिष्ठित हो गये हों, यह भी तो असम्भव नहीं है, वे ऐसे हों तो इनके कर्म-समूह मनुष्यों की विचार-शक्ति से परे होंगे तथा केवल लीलामात्र होंगे।" इस प्रकार विचार के पश्चात् फिर सोचने लगे कि "ये ऐसे ही पुरुष हैं यह मैं किस प्रकार से सिद्ध कर सकता हूँ, मेरी ऐसी आँखें नहीं हैं कि मैं इनको पहचानूँ। यदि ये ऐसे पुरुष हों, तो मैं जैसा सद्गुरु चाहता हूँ, ये निःसन्देह वैसे ही हैं। किन्तु निश्चित रूप से न जानकर मैं कैसे उनको आत्मसमर्पण कर सकता हूँ।" ऐसा सोचकर अन्त में उन्होंने यह निश्चय किया कि "मैं बृन्दावन

दर्शन करने के लिये आया हूँ, इस बार श्रीबृन्दावन का ही दर्शन किया; अपने मन का भेद मैं किसी से न खोलूँगा। और वे यदि उसी प्रकार के ही पुरुष हों तो मेरे मन के इन सब विचारों और संशयों को वे अवश्य ही जान रहे हैं, वें यदि मुझे शिष्य के रूप में स्वीकार करना चाहेंगे तो स्वयं ही अपनी इच्छा प्रकट करेंगे और जिससे मेरे संशय दूर हों वही करेंगे।" इस प्रकार का सिद्धान्त करके उनका चित्त शान्त हुआ।

इसके दो-तीन दिन पश्चात् जब वे लोग मध्याह्न का भोजन समाप्त कर श्रीरामदासजी के पास बैठे थे, तब श्रीअभयनारायणजी के भाई श्रीहरिनारायणजी का एक पत्र श्रीताराकिशोरजी को मिला। वह पोस्टकार्ड में लिखा हुआ था। उसको श्रीअभय-नारायणजी ने पढ़कर श्रीताराकिशोरजी को दिया और वे पढ़ने लगे। श्रीअभयनारायणजी के पास कलकत्ते से सदैव पत्र आते थे किन्तु उन पत्रों के सम्बन्ध में श्रीरामदासजी कभी कुछ नहीं पूछते थे। पर इस पोस्टकार्ड को उनके पढ़ते रहने के समय वे बोले— "इसमें क्या लिखा है बताओ।" उस पत्र में श्रीहरिनारायणजी ने पूछा था कि श्रीताराकिशोरजी ने श्रीरामदासजी से दीक्षा ली है या नहीं। वास्तव में इसके पूर्व या पश्चात् उन्होंने और कोई पत्र कभी उन्हें नहीं लिखा। श्रीरामदासजी से दीक्षा लेने की उनकी इच्छा हुई है यह भी उन्होंने कभी भी उनसे या अथवा दूसरे किसी से नहीं कहा था। पत्र में उन्होंने केवल इतनी बात ही क्यों उनको लिखी यह श्रीताराकिशोरजी की समझ में नहीं आया।

श्रीरामदासजी ने जब उनसे पूछा कि पत्र में क्या लिखा है, तब वे सोचते ही थे कि क्या कहूँ, इतने में श्रीअभयनारायणजी ने उनसे कहा—'मेरे भाई ने इस पत्र में पूछा है कि बाबूजी ने आपसे दीक्षा ली है, कि नहीं।" यह सुनते ही श्रीरामदासजी ने कहा—"हाँ, उनको लिख दो कि इनकी दीक्षा मुझसे मिल गयी।" श्रीअभय-नारायणजी से यह कहकर श्रीताराकिशोरजी की ओर ताकते हुए उन्होंने कहा—"इस वक्त तुमको दीक्षा नहीं देंगे, तुम अपनी स्त्री के संग श्रावण के महीने में फिर यहाँ आना, उस वक्त दोनों को एक संग दीक्षा देंगे।" इस बात को सुनकर उनकी चिन्ता दूर हुई। उन्होंने मन ही मन कहा—"मेरी तो इस समय दीक्षा लेने की इच्छा ही नहीं है, इस समय दीक्षा न देने की बात कहने से अच्छा ही हुआ है। इनके विषय में मेरे संशय के दूर होने पर क्या करना है वह देखा जायेगा।"

इसके दो-तीन दिन पश्चात् वे लोग श्रीवृन्दावन से कलकत्ता लौटे। आश्रम में रहते समय श्रीरामदासजी श्रीताराकिशोरजी के प्रति कुछ कठोर भाव दिखाते थे यह पहले ही कह चुका हूँ। किन्तु आश्रम से चलते समय उन्होंने उनके प्रति ऐसे भाव से दृष्टि डाली कि उनका सारा शरीर माधुर्यमय हो गया और वे केवल स्नेह और प्रेम के ही आधार हैं ऐसा उनको अनुभव हुआ। उनकी उस दृष्टि से उनके हृदय में एक अद्भुत प्रेम का सञ्चार हुआ, जो कलकत्ता लौटने तक उनके अन्तःकरण में लहराता रहा। किन्तु तत्पश्चात् दो-तीन दिनों में वह भाव

छूटकर उनके जी में फिर पहले का सा नीरस भाव भर गया।

उनके श्रीबृन्दावन में रहते समय श्रीरामदाजी ने प्रसंगवश कहा था कि कुछ उपदेशों को पालन·करने से साधकों का कल्याण होता है, जैसे—

(१) रात्रि के चतुर्थ प्रहर में निद्रित न रहना।

इस उपदेश के अनुकूल में साधुओं का उपदिष्ट एक पद्य है, वह भी बताया कि—

'पहले पहर में सब कोई जागे,
दूसरे पहर में भोगी।
तिसरे पहर में तस्कर जागे,
चौथे पहर में जोगी॥'

(२) भीतर से काम करना, निन्दा-स्तुति को नहीं देखना।

इसका आशय यह है कि जी में भले-बुरे का विचार करके काम करना, केवल वाह्य-निन्दा और स्तुति पर ध्यान देकर काम नहीं करना।

(३) सदा शुक्ल रहना।

इसका अर्थ निष्पाप और निष्कपट होना।

श्रीरामदासजी ने और भी अनेक उपदेश किये थे, जिनमें से इन तीनों का उल्लेख किया गया है।

श्रीताराकिशोरजी ने कलकत्ता लौटकर प्रथमोक्त उपदेश को काम में लाने का प्रयत्न कर यह देखा कि अभ्यास न रहने से

प्रायः विफल मनोरथ होना पड़ता है और जब कभी वे सफल मनोरथ होते हैं, तब मस्तिष्क गर्म हो जाता है, और वकालत के काम करने में उन्हें कुछ-कुछ शारीरिक क्लेश भी होता है। पहले योगिसम्प्रदाय में रहकर उन्होंने जो प्राणायामादि क्रियाएँ आग्रह के साथ की थीं उनसे उनके शरीर में वायु का वेग इतना बढ़ गया था कि बहुत वर्ष पहले से उनकी गाढ़ी निद्रा नहीं होती थी, रात्रि के अन्तिम भाग में ठंडक के समय में कुछ निद्रा का सुख अनुभव करते थे, पर उस समय भी वे नाना प्रकार के स्वप्न देखते थे। इसलिये रात्रि के चौथे पहर में जागने का प्रयत्न कर यदि किसी दिन वे कृतकार्य होते तो दिन भर उनका मस्तिष्क गर्म हो रहता था इस पर भी उन्होंने प्रयत्न करना बन्द नहीं किया।

ऐसी स्थिति में आषाढ़ के प्रथम भाग में एक अद्भुत घटना घटी। घर के भीतर खिड़की से संलग्न स्थान पर मसहरी लगाकर वे सोये हुये थे, रात्रि के अन्तिम प्रहर में उन्हें निद्रा भी आयी थी। उस समय किसी ने उनसे 'उठ' कहकर उनपर एक छोटा सा ढेला फेंका, वह उनके शरीर में लगा। तत्काल ही उठकर उन्होंने ढेले को हाथ में लिया, किन्तु खिड़की के बाहर किसी को नहीं देखा। और भी देखा कि मसहरी के किसी स्थान पर कोई छेद नहीं हुआ, इससे ढेला कैसे मसहरी के भीतर आकर उनके शरीर में लगा वह सोचकर वे कुछ भी स्थिर न कर सके। इस घटना से वे बड़े आश्चर्य-युक्त हुए।

इसके पश्चात् और एक दिन खुली छत पर वे लेटे हुए थे, रात्रि के अन्तिम प्रहर में किसी ने दो-तीन बार उनका नाम लेकर उन्हें मृदु-स्वर से पुकारा, सुनकर वे उठ बैठे और देखा—चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ है, कहीं कोई भी न दिखाई पड़ा; आश्चर्ययुक्त होकर सोचते हुए वे छत पर विचरने लगे।

इन सब घटनाओं के मूल कारण क्या हैं, उस सम्बन्ध में वे कुछ स्थिर न कर सके। वे दैव-प्राप्त जिस मन्त्र को पहले जपते थे उसका अब भी जप कर रहे थे। पहले ही कह चुका हूँ कि श्रीरामदासजी के प्रति उनमें श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई थी। श्रावण मास में बृन्दावन जाकर दीक्षा लेने को उन्होंने जो कहा था, वह उनको स्मरण था। किन्तु उनके प्रति उनका विश्वास उत्पन्न नहीं हुआ था और श्रीबृन्दावन जाने के विषय में भी उस समय उनकी बिलकुल प्रवृत्ति नहीं थी। वे दुःखित चित्त से इसी चिन्ता में कि कब उन्हें ब्रह्मज्ञ सद्‌गुरु का आश्रय मिलेगा, अपने दिन व्यतीत कर रहे थे। दिन में अपने वकालत का काम करते थे, किन्तु संध्या के पश्चात् उस काम को बिलकुल नहीं करते थे; उस विषय की चिन्ता में ही उनका समय जाता था। सम्भवतः इसीलिए ही भगवान् उनके प्रति दयार्द्र हुए और उनके संशय को दूर करने के लिए उनके अचिन्तनीय रूप से ही उन्होंने एक उपाय किया। आषाढ़ मास के अन्त में एक दिन पूर्वोक्त रीति से वे छत पर सोये हुए थे। रात्रि के अन्तिम भाग में अचानक उनकी निद्रा भंग

हो गई और वे उठ बैठे। बैठते ही देखा कि आकाश को भेदकर श्रीरामदासजी उनकी ओर बढ़े चले आते हैं, देखते ही देखते वे छत पर उनके आगे आकर खड़े हो गये और उन्होंने उन्हें ढाढ़स देकर उनके कान में एक मन्त्र का उपदेश किया। मन्त्रोपदेश करने के पश्चात् आकाश-मार्ग में उठकर क्षणमात्र में वे अदृश्य हो गये। छत के ऊपर उन्हें इस प्रकार से दीक्षा देकर जब वे चले गये, तब उस स्थान पर उन्हें श्रीविजयकृष्ण गोस्वामीप्रभु की मूर्ति भी दिखलाई पड़ी थी। श्रीरामदासजी जब अन्तर्हित हो गये, तब वे अनुभव करने लगे कि उनका उपदिष्ट मन्त्र उनके हृदय के पर्दे-पर्दे में अनुप्रविष्ट हुआ है और उनके सम्बन्ध में उनके जो सब संशय थे वे सब सम्पूर्ण विनष्ट हो गये। वे यह अनुभव करने लगे कि उसी समय से उनका जीवन धन्य हो गया है और वे अपनी प्रार्थना के अनुसार सद्गुरु प्राप्त हुये हैं। चैत-वैशाख मास में श्रीवृन्दावन में जाकर श्रीरामदासजो के चरित्र को देख उनके मन में जो सब शङ्काएं हुई थीं, वे सभी क्षणभर में दूर हो गयीं और उन्होंने उनको पूर्णज्ञ ब्रह्मर्षि जाना।

अतःपर श्रावण मास के अन्तिम भाग में अपनी स्त्री और एक सौतेले-छोटे भाई तथा श्रीअभयनारायणजी के साथ श्रीताराकिशोर-जी प्रसन्न-मन से श्रीवृन्दावन गये और आश्रम में पहुँचकर उन्होंने श्रीरामदासजी को दण्डवत् प्रणाम किया। तब श्रीरामदासजी ने कहा कि भाद्र मास में जन्माष्टमी के दिन वे उन्हें और उनकी स्त्री को दीक्षा देंगे। इस बार भी उन्होंने देखा कि श्रीरामदासजी के

आचरण ठीक पूर्ववत् ही थे; किन्तु उनके उन सब आचरणों से उनको कोई संशय नहीं हुआ, वे समझने के लगे कि ये सब उनकी लीला मात्र हैं। जो यहाँ रहकर भी सहस्र मील दूर कलकत्ते में उन्हें देख सकते हैं और वहाँ उपस्थित होकर उन्हें ढाढ़स देने और दीक्षित करने में समर्थ हैं, वे अवश्य ही उनको उद्धार करने की शक्ति रखते हैं, और उनको आत्मसमर्पण करने में कुछ भी द्विविधा नहीं करनी चाहिये। ऐसा विचार कर वे दीक्षा लेने के लिये प्रस्तुत हुए। तथापि उन्होने श्रीरामदासजी से कहा—"जब पहले कलकत्ते में छत पर मुझे आपने दीक्षा दी है, तब फिर दीक्षा का क्या प्रयोजन है?" वे बोले—"हाँ फिर भी दीक्षा दूंगा।" इसलिये वे फिर दीक्षा लेने के लिये प्रस्तुत हुए। किन्तु उनकी स्त्री ने उनसे और श्रीअभयनारायणजी से कहा कि उनकी एकवार अपने देश के गुरु से दीक्षा हो गयी है वह मन्त्र उनका बड़ा ही प्रिय है, इसलिये वे फिर दीक्षा नहीं लेना चाहतीं। श्रीअभयनारायणजी उनको प्रतिदिन सद्‌गुरुदीक्षा के महात्म्य के विषय पर उपदेश देने लगे; किन्तु वे किसी प्रकार से फिर दीक्षा लेने में सम्मत नहीं हुईं। जन्माष्टमी की पूर्वरात्रि में श्रीअभयनारायणजी के साथ उनको बात-चीत हुई, वे बोलीं कि बहुत दिनों से अपने गुरु के दिये हुए मन्त्र का जप करती आई हैं और इसमें उनकी प्रीति भी अधिक है। उस मन्त्र को छोड़कर और किसी मन्त्र को वे जपना नहीं चाहतीं। श्रीताराकिशोरजीने इस विषय में उनसे विशेष कुछ नहीं कहा था; क्योंकि उनकी यह धारणा थी कि "जब श्रीबाबाजीमहाराज ने मेरे

साथ उनको भी जन्माष्टमी के दिन दीक्षा देने की बात कही है, तब किसी न किसी प्रकार से स्त्री की दीक्षा होगी ही।"

जन्माष्टमी के दिन प्रातःकाल में श्रीरामदासजी श्रीताराकिशोरजी से बोले बाजार से नया वस्त्र, तुलसी की कण्ठी और गोपीचन्दन लाना होगा, आज तुम दोनों की दीक्षा होगी।" यह सुनकर वे स्त्री से रुपये लेने के लिये घर में गये, तब वे उनसे बोलीं—"तुम्हारे साथ मैं भी दीक्षा लूँगी, मेरे लिये भी वस्त्र और कण्ठी लाना।" उन्होंने मुस्कराकर कहा—"तुमने तो कहा था कि तुम दीक्षा न लोगी ?" उनकी स्त्री ने कहा—"तब दीक्षा लेने की मेरी इच्छा नहीं थी, किन्तु आज प्रातःकाल से दीक्षा लेने के लिए मेरे मन में बड़ी उत्कण्ठा हो रही है, तुम जब दीक्षा लोगे तब मैं भी लूँगी।"

वे श्रीरामदासजी की महिमा के विषय में चिन्ता करते-करते बजार गये। एक जोड़ा नया वस्त्र, तुलसी की दो कण्ठियाँ और कुछ गोपीचन्दन लेकर आश्रम लौटे। तत्पश्चात् श्रीरामदासजी ने पूर्वाह्न में उन्हें दीक्षा दी। पहले एक मन्त्र तीन बार उनके कान में सुनाकर कहा कि इस मन्त्र को सदा जपना, किन्तु जूता पहनकर इसे कभी न जपना। अंत में उन्होंने फिर एक और मन्त्र जो पहले वे कलकत्ते में छत पर आविर्भूत होकर उन्हें दे आये थे, उनके कान में सुनाया। किन्तु इस दूसरे मन्त्र के सम्बन्ध में उन्होंने कहा—"इसका जप नहीं करना पड़ेगा, यह यथासमय अपने आप प्रकाशित होगा; इसका जप अपने आप होता है, इसको जपना नहीं

पड़ता।" इनकी दीक्षा के पश्चात् उन्होंने इनकी स्त्री को भी दीक्षा दी। किन्तु उनका मन्त्र इनके दोनों मन्त्रों से पृथक् था। इनके सामने ही इनके स्त्री की दीक्षा हुई। इस प्रकार से जन्माष्टमी के दिन इन दोनों ने श्रीरामदासजी से कृपा-लाभ किया। श्रीताराकिशोरजी की दीक्षा-सम्बन्धी इतनी बात इसलिए लिखी गई कि इनसे श्रीरामदासजी के चरित्र का माहात्म्य बहुत कुछ प्रकट होता है।

—:०ः—

श्रीरामदासजी की व्रजपरिक्रमा और उस समय की लीला

इस जन्माष्टमी के पश्चात् तृतीय दिवस श्रीरामदासजी ने सस्त्रीक श्रीताराकिशोरजी को और श्रीअभयनारायणजी को सङ्ग में लेकर व्रजचौरासीक्रोश वनपरिक्रमा करने के लिये प्रस्थान किया। श्रीपुष्करदासजी और कल्याणदासजी नामक दो साधु भी उनके साथ चले और उनकी गंगा नाम्नी गौ भी साथ चली। उस वर्ष व्रजधाम में बड़ी वर्षा हुई थी। लगभग प्रतिदिन बहुत भारी वृष्टि होती थी। मार्ग के अधिकांश स्थानों में जल और कीचड़ की अधिकता थी। किसी-किसी स्थान पर शरीर का जानु-पर्यन्त पंकनिमग्न हो जाता था। श्रीताराकिशोरजी आदि के रहने के लिये श्रीरामदासजी ने एक छोटी-सी रावटी दी थी। प्रत्येक दिन गन्तव्य स्थान पर उपस्थित होकर श्रीताराकिशोरजी खूँटे गाड़कर रावटी को लगाते थे और श्रीरामदासजी के लिये उनके वृहत् छत्र को मिट्टी मे जमा देते थे। उस रावटी और छत्र के चारों ओर एक फुट गहरा गड्ढा खोद देते थे, नहीं तो वृष्टि का जल रावटी और छत्र के भीतर प्रवेश कर सब स्थान को कर्दममय कर देता था। रावटी के भीतर एक चटाई बिछा कर उस पर एक कम्बल डालकर श्रीताराकिशोरजी आदि आसन लगाते थे। बड़े छत्र के नीचे श्रीरामदासजी का आसन लगाया

जाता था। पुष्करदासजी और कल्याणदासजी एक छोटे छत्र के नीचे अपना अपना आसन लगाते थे।

किसी दिन तीन, किसी दिन चार और किसी दिन पाँच कोस चलकर किसी निर्दिष्ट स्थान पर उपस्थित होकर रावटी आदि लगाई जाती थी। एक बैलगाड़ी श्रीताराकिशोरजी के साथ ली गयी थी। उस पर उन लोगों की सामग्री लादी जाती थी। गाड़ी सामग्री से भर जाती थी। उसे तीन बैल खींचते थे; किन्तु रास्ते में पङ्क इतना अधिक था कि उन तीन बैलों के लिये भी गाड़ी खींचकर ले जाना कठिन हो जाता था। निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचकर परिक्रमा करने वाले साधु लोग शुष्क काष्ठ ढूँढ़ने चले जाते थे। वे जिस किसी वृक्ष में शुष्क-काष्ठ पाते उसी में से उसको कुल्हाड़ी से काटकर लाते थे और वे गाँव के लोगों से कण्डे भी माँगकर लाते थे।

पूर्वाचार्य श्रीचतुरचिन्तामणि देवाचार्यजी श्रीनागाजीमहाराज नाम से प्रसिद्ध थे। उनके समय से व्रजपरिक्रमा की एक विशेष रीति प्रचलित है। यहाँ उसका वर्णन करना आवश्यक है। व्रज के पैगाम नामक ग्राम में श्रीनागाजीमहाराज का जन्म हुआ था। साधु होने के पश्चात् वरसाना के निकटवर्त्ती तीन ओर उच्च पर्वत-श्रेणी से वेष्टित एक समतल उपत्यका पर रहकर उन्होंने कठोर तपस्या की थी। उस उपत्यका का नाम कदमखण्डी है। श्रीनागा-जीमहाराज के समय से वह "नागाजी की कदमखण्डी" के नाम से विख्यात है। इस कदमखण्डी में अनेक वर्ष कठोर तपस्या करने पर

भी भगवद्दर्शन न होने से वे अभिमान-वश-व्रजधाम को छोड़कर चले जाने का विचारकर एक हाथ में कमण्डलु और दूसरे हाथ में चिमटा लेकर चलने लगे। व्रजवासियों का स्वभावतः श्रीकृष्ण पर सख्य-भाव है। श्रीनागाजीमहाराज भी व्रजवासी होने से उनका भी स्वभावतः यह सख्यभाव ही था। इस लिये जब बहुत दिन तपस्या करने पर भी भगवद्दर्शन नहीं हुआ तो उनके जी में यह विचार उठा कि, "इस भूमि पर श्रीकृष्ण जब आप सिद्ध हुआ था, तो वह यहाँ और किसी को सिद्ध न होने देगा। अतः मैं उसके धाम को छोड़ कर अन्यत्र जाकर तपस्या करूंगा। देखूँगा अन्यत्र वह कैसे बाधा डालता है।" सखा के प्रति इस प्रकार का अभिमान कर श्रीनागाजी-महाराज चिमटा और कमण्डलु हाथों में ले कई पग चलकर एक कण्टकाकीर्ण वृक्ष के नीचे से चलने के समय उस के कण्टक से उनकी जटाएँ चारों ओर से ऐसी अटक गयीं कि उनकी गति रुद्ध हो गई। इससे श्रीनागाजीमहाराज ने और अभिमान कर विचारा कि, "यह उसी शठ का ही चातुर्य है। मेरे यहाँ से जाने में भी उसने मेरी जटा को कण्टक से विद्ध कर मेरा गतिरोध कर दिया है। अच्छा, मैं कण्टकविद्ध अवस्था में ही रहूँगा। देखूं, वह मेरा क्या कर सकता है।" इस प्रकार अभिमान से दृढ़संकल्प होकर श्रीनागाजीमहाराज चिमटा और कमण्डलु हाथ में लिये हुए वहीं खड़े रह गये। इस अवस्था में उन्होंने तीन दिन तीन रात्रि वहीं व्यतीत की। चौथे दिन भक्तवत्सल भगवान् ने चतुर्भुज रूप में प्रकट होकर दो हाथों से उनका आलिंगन किया और अन्य दो हाथों

से उनकी जटाओं को कण्टकजाल से मुक्त किया; और कहा— "नागाजी ! तुम यहीं रहो, तुम सिद्ध हो गये। मैं तुम्हारे सर्वाभीष्ट पूर्ण करूँगा।" श्रीभगवान् के दर्शन-आलिंगन से श्रीनागाजीमहाराज शोक और मोह से विमुक्त हुए। उन्होंने नाना प्रकार से भगवान् की स्तुति की। तब श्रीभगवान् ने उनसे वर माँगने को कहा। श्रीनागाजी ने कहा—"तुम मुझे यदि वरदान देते हो तो इस व्रज-धाम के आधे पूत (पुत्र) और आधा दूध मुझको अर्पण करो। अर्थात् व्रजधाम में लोगों के जितने पुत्र हों उनमें आधे तो वंश की रक्षा के लिये गृहस्थ होकर रहें, अवशिष्ट आधे साधु होकर नागाजी के समाज (साधु समाज) की वृद्धि करें और व्रजधाम के घर-घर में जो दूध प्रतिदिन गायें दें, उसके आधे भाग पर साधुओं का अधिकार हो, जिससे उदरपूर्त्ति से निश्चिन्त होकर वे भजन करते रहें।" श्री नागाजी के इस प्रकार वरदान प्रार्थना करने से भगवान् ने प्रसन्न होकर उनको वही वरदान दिया। श्रीनागाजी ने कहा— "तुमने मुझे जो वरदान दिया है, उसको लोग कैसे विश्वास करेंगे?" श्रीभगवान् ने कहा—"मैं स्वयं इस वरदान को सफल करूँगा, तुम व्रज के ग्राम-ग्राम में विचरो। मैं तुम्हारा चेला बनकर तुम्हारे साथ रहूँगा और सब ठौर इस वरदान का प्रचार कर आधा दूध लूटकर तुमको ला दिया करूँगा।" श्रीनागाजी गुरु और भगवान् उनके चेला बनकर व्रज के ग्राम-ग्राम में विचरने लगे। चेलाजी सर्वत्र इस वरदान का प्रचार करने लगे और गृहस्थों के प्रत्येक घर में प्रवेश कर आधा दूध लूट-लूटकर लाने लगे। दूध लेने में जिन्होंने

विशेष बाधा डाली, उनके सब दूध में तत्काल ही कीड़े पड़ने लगे और उनमें किसी की गाय, किसी की भैंस और किसी की बछिया मरने लगी। व्रजवासियों ने यह देखकर तथा गुरु-चेले दानों की तेजोमय मूत्तियों के दर्शन कर श्रीनागाजी के वरदान को सत्य माना और प्रसन्न होकर पुत्रों में से आधे को श्रीनागाजी के समीप चेला बनने केलिये अर्पण करने लगे। इस प्रकार थोड़े दिनों में श्रीनागाजी के वरदान का व्रज में सफलतापूर्वक प्रचार कर और उनको कृतार्थ कर श्रीभगवान् अदृश्य हो गये। श्रीनागाजी के अनेक चेले हुए और साधुओं से व्रजधाम की शोभा बहुत बढ़ी। आज तक उनके इस वरदान का प्रभाव व्रजधाम से लुप्त नहीं हुआ है। अब यदि किसी के दो पुत्र हों तो व्रज के माता-पिता उनमें से एक को स्वयं ले जाकर किसी न किसी साधु का चेला बना देते हैं। नहीं देने से प्रायः देखा जाता है कि बालक अपने-आप भागकर किसी साधु का चेला बन जाता है। दूध के सम्बन्ध में भी उनके उस वरदान का माहात्म्य अद्यापि लुप्त नहीं हुआ है। व्रजपरिक्रमा के समय परिक्रमा करते-करते साधुओं में से कोई कमण्डलु कोई लोटा, कोई घड़ा, कोई पीतल का बड़ा चपटा (डेकची आदि लेकर पथ में जो गाँव मिलते हैं, उनमें से किसी में उनका कोई दल, तो किसी दूसरे में उनका कोई अन्य ही दल प्रविष्ट होकर व्रजवासियों के घरों से अपने आप दूध की मटकी उड़ेल दूध ले आते हैं। दूध लूटने की यह लीला साधु लाग जिस प्रकार करते हैं, उसका एक दृष्टान्त श्रीताराकिशोरजी के जीवनी में लिखा है, वह नीचे उद्धृत करता हूँ—

"एक साधुजी हाथ में हँड़िया लेकर एक व्रजवासी के घर में घुसे। गृहाङ्गन में नीम के (व्रज के लगभग प्रत्येक गृह में नीम का वृक्ष है) नीचे एक खटिया पर बैठा गृहस्वामी गुड़गुड़ी लगाकर तम्बाकू पी रहा था। साधुजी को हँड़िया लेकर आये हुए देख वह मुस्कराया और अपनी स्त्री को पुकारकर बोला—'अरी, नागा दूध लूटने को आया है।" बस गृहिणी कटि में अञ्चल को खोंसकर साधुजी से लड़ने के लिये प्रस्तुत हुई। साधुजी ने चुपचाप उसके घरमें घुसकर दूध की मटुकी को हाथ में लिया। इतने में उस स्त्री ने साधुजी का हाथ पकड़ लिया और दोनों में बल-परीक्षा होने लगी। गृहस्वामी खाटपर बैठकर तम्बाकू पीते हुए हँस रहे थे और यह देख रहे थे कि किसकी जीत होती है और किसकी हार। जीतने पर गोपी को हटाकर बलपूर्वक मटुकी से आधा दूध अपनी हँड़िया में उड़ेलकर साधुजी गृह से निकले। साधुजी को विजयी देखकर गृहस्वामी प्रसन्न होकर उनकी यों प्रशंसा करने लगे—"वाह साधुजी, तुम्हारा लँगोटा सच्चा है। दूध लेकर खूब पीयो।" ऐसी स्थिति में साधु की ही प्रायः जीत होती है। कारण यह है कि सर्वोपरि साधुओं के लिये आधा दूध का वरदान श्री भगवान् का दिया हुआ है ही, फिर साधुओं के अधिकांश में वीर्यधारण अटूट रहता है, वे मैथुन से दूर रहते हैं, इसलिये वे बलवान् होते हैं। किन्तु व्रज में अनेक शक्तिशालिनी स्त्रियाँ भी हैं, जो बड़े-बड़े पहलवानों के समान बलिष्ठ होती हैं। ऐसी स्त्री से लड़ने में साधु को कभी मुश्किल में पड़ना होता है।

जहाँ किसी ऐसी स्त्री के होने का पता चलता है, वहाँ साधुओं में से वे ही जाते हैं, जो यथार्थ में शक्तिशाली होते हैं। किसी-किसी प्राचीन साधु से सुना है कि एक गाँव में एक गोपी इतनी बलवती थी की कोई भी पहलवान उसको मल्लयुद्ध में हरा नहीं सकता था। उसके घर में केवल श्रीबाबाजी महाराज स्वयं जाकर उसे लड़ाई में हराकर दूध लूटकर ला सके थे। तत्पश्चात् श्रीबाबाजी महाराज के जाने से वह फिर कभी उनके दूध लेने में बाधा नहीं डालती थी। परिचित सच्चे साधु के जाने पर कभी-कभी व्रज-गोपियाँ आमोद प्रमोद के लिये ही कुश्ती में भिड़तीं, नहीं तो बिना बाधा के दूध लेने देतीं।" अतःपर श्रीताराकिशोरजी ने लिखा है, "प्रथम वर्ष में ही दूध लूटने की लीला मैंने इसी प्रकार होते देखी है। तत्पश्चात् अनेक बार श्रीबाबाजी महाराज के साथ परिक्रमा में गया था। एक वर्ष छोड़कर दूसरे वर्ष मैं सस्त्रीक परिक्रमा में जाता था, इसी भाँति मैं कई बार परिक्रमा में गया था; किन्तु प्रथम दो बार मैंने जो साधुओं का मेल और आनन्द देखा था उसको क्रमशः घटते ही देखा। परिक्रमा के दिनों में प्रत्येक निर्दिष्ट स्थान में रावटी आदि स्थापन करने के समय ही साधु लोग दूध लेकर लौट आते और हम सब लोग दूध पी लेते थे, कभी कभी मार्ग में चलते-चलते भी कोई-कोई साधु दूध लूट लाकर पिलाते थे। प्रथम दो एक बार परिक्रमा में ऐसा ही हुआ था। तत्पश्चात् दूध इस प्रकार से सदैव नहीं मिलता था। व्रज में अकाल पड़ना भी इसका एक कारण था।"

श्री ताराकिशोरजी ने परिक्रमा के प्रसंग में श्री रामदासजी की महिमा-प्रकाशक कुछ घटनायें उनकी जीवनी में जिस प्रकार वर्णन की हैं वे यहाँ उद्धृत करता हूँ।

श्री ताराकिशोरजी ने लिखा है—"पहले ही कह आया हूँ कि बरसाने से कुछ दूर कदमखण्डी नामक स्थान में श्रीनागाजी भगवद्-दर्शन कर सफल-मनोरथ हुए थे, जो अब 'नागाजी को कदमखण्डी' के नाम से प्रसिद्ध है। श्री नागाजी महाराज के मानव-लीला संवरण करने पर यहीं उनके शरीर की समाधि हुई थी। जन्माष्टमी के पश्चात् शुक्लाचतुर्दशी को व्रजपरिक्रमा की साधु-मण्डली वहीं पहुँचकर आसन लगाती है और व्रजमण्डल के व्रजवासी भी उसदिन वहाँ इकट्ठे होते हैं। उसदिन वहाँ बड़ा भारी मेला लगता है, तथा रासधारी लोग (रासमण्डली) आकर रासलीला करते हैं। व्रजवासी उसदिन वहाँ मालपूए का भोग लगाते हैं और साधु मालपूए का प्रसाद पाते हैं। वह दिन नृत्य-गीत तथा आनन्द में कट जाता है। दूसरे दिन वहाँ से साधु-मण्डली के आसन उठते हैं और तीन कोस दूरवर्त्ती काम्यकवन के गयाकुण्ड नामक कुण्ड पर जाकर वे सब टिकते हैं। कदमखण्डी और काम्यकवन के बीच में नीची भूमि है, जहाँ प्रायः प्रतिवर्ष कुछ-कुछ जल और कर्दम मिलता है। पहली परिक्रमा के वर्ष बड़ी वर्षा होने के कारण वहाँ इतना जल भर गया था कि अपनी बैलगाड़ी लेकर उसे पार करना असाध्य जान पड़ा। इसलिये श्रीबाबाजी महाराज ने कहा कि वे उस पथ से नहीं जायंगे और गयाकुण्ड,

मेहराना के मार्ग से न जाकर वे विठोरा, खटावट से होते हुए जमात से जा मिलेंगे। यह निश्चय हुआ कि श्रीबाबाजी महाराज के साधक चेले महन्त श्रीतिलकदासजी के साथ साधुओं की जमात गयाकुण्ड जायेगी। श्रीबाबाजी महाराज के लिये उस समय रसोई श्रीपुष्करदासजी बनाते थे। पर उन्होंने कहा कि वे तिलकदासजी के साथ गयाकुण्ड होते हुए जायंगे। मैंने विचारा कि पुष्करदासजी के चले जाने से श्री बाबाजी महाराज को रसोई का क्लेश सहना पड़ेगा। इसलिये मेला भङ्ग होने पर जब सन्ध्या की आरती हो गयी, तब पुष्करदासजी को साधुओं की जमात से कुछ दूर एक पहाड़ के बीच निभृत-स्थान पर ले जाकर उनको मैं और अभय-नारायणजी समझाने लगे कि श्रीबाबाजी महाराज सरीखे महा-पुरुष की सेवा को छोड़कर आपको और कहीं-नहीं जाना चाहिये। पुष्करदासजी ने कहा कि वे लगभग बीस वर्ष से श्री बाबाजी महाराज के साथ रहते हैं, उनकी सिद्धता उन्होंने यहीं तक देखी है और जानते हैं कि वे कामजित पुरुष हैं। श्री बाबाजी महाराज ने कामरिपु को सम्यक् जीत लिया है, किन्तु उनका क्रोध और धनका लोभ नहीं गया है ये दोनों ही उनमें बहुत हैं। मैंने कहा—'अच्छा, आप कहते हैं कि उनमें क्रोध बहुत है और वे सदैव सबसे झगड़ते हैं पर आप से पूछता हूँ कि क्रोधी मनुष्य का लक्षण क्या है? आप ही कहिये न। यदि किसी पर आपका क्रोध हो और किसी से आप झगड़ें तो झगड़े के पश्चात् उस पर आप की धारणा कैसी रहती है? उस पर विद्वेष-भाव क्या कम से कम कुछ समय तक नहीं बना रहता है? झगड़ने के अनन्तर ही क्या उससे आप पूर्ववत्

निष्कपट भाव से मिल-जुलकर हास्य-कौतुक कर सकते हैं ?' पुष्कर-दासजी ने कहा—'नहीं, कम से कम थोड़ी देर तक उसपर मनोमालिन्य बना रहता है।'

मैंने फिर पूछा—'आप बीस वर्ष से बाबाजी महाराज के संग रहते आये हैं. आप सच कहिये क्या आपने यह देखा है कि किसी से झगड़ लेने के पश्चात् उसपर उनका मनोमालिन्य बना रहता है ?' वे कुछ देर विचार कर बोले—'भाई, मैं उनके विषय में कभी झूठ न कहूँगा, मैंने ऐसा कभी नहीं देखा; इस क्षण तो उन्होंने माँ की···तेरी···इत्यादि अश्लील वाक्यों का किसी पर प्रयोग किया, यहाँ तक कि लाठी लेकर वे मारने को भी गये, उसने भी उनको गालियाँ दीं, पर दूसरे ही क्षण बालक की भाँति उसके साथ बैठकर हास्य-कौतुकादि करने लग गये और भाँति-भाँति के गल्प द्वारा आमोद-प्रमोद में प्रवृत्त हुए। उनमें किसी प्रकार की भी विकार बुद्धि नहीं रहती।' मैंने कहा—'फिर तो आप उनके गाली बकने को और झगड़ने को क्रोद्ध नहीं मान सकते, आपको यही मानना पड़ेगा कि वह केवल उनकी बाहरी ही भड़क है, वह उनकी लीला मात्र है। जो लोग भगवद्रूप हो गये हैं, उनके विषय में शास्त्र का कहना यह है कि उनमें से कोई बालकवत्, कोई उन्मत्तवत्, कोई पिशाचवत् रहकर वाह्य व्यवहार किया करते हैं, जिससे अज्ञानो साधारण लोग उनका यथार्थ परिचय नहीं पा सकते और उनके सम्बन्ध से बञ्चित रहते हैं।'

मैंने उनसे उस समय यह भी पूछा 'आपने कहा कि बाबाजी महाराज बड़े लोभी हैं, उनमें धनतृष्णा बड़ी बलवती है। पर मैं

आप से पूछता हूँ कि धन-लोभ का लक्षण क्या है? किसी से धन मिलने की आशा होती है तो उसके साथ धनलोभी कैसा बर्त्ताव करता है?' पुष्करदासजी ने कहा—'उसका वह सत्कार करता है, उसका मीठी-मीठी बातें सुनाता है, उसके पीछे-पीछे फिरता है इत्यादि।' मैंने तब उनसे पूछा—'आप तो बीस वर्ष से बाबाजीमहाराज का संग करते आये हैं, आप सत्य कहिये, आपने धनाढ्यों के साथ उनका कैसा बर्ताव देखा है?' उन्होंने कहा—'तुम जब मुझसे पूछते हो, तब उस सम्बन्ध में मैं सत्य बताता हूँ कि धनाढ्यों के साथ उनका बर्त्ताव बड़ा ही कठोर होता है, जिससे उनसे हमलाग सदैव असन्तुष्ट रहते हैं। औरों की बात क्या कहूँ, एक बार बिजिनाग्राम के महाराजा मन्त्रियों के साथ उनके दर्शन को आये, ता उनपर वे ऐसे रूठे कि उतने बड़े माननीय पुरुष को भी उन्होंने इस प्रकार भगाया जैसे दुत्कार कर कुत्ते भगाये जाते हैं; बैठने के लिये भी थोड़ा सा आदर नहीं किया। तुम स्वयं जब पहले आश्रम में आये थे तब तुम्हारे साथ वे कैसा कठोर व्यवहार करते थे, यह क्या नहीं देखा था। किसी दिन भी तुमसे स्नेहपूर्वक वे कुछ नहीं बोलते थे। इस बार भी तो मैं उनको तुमसे विशेष आदर करते नहीं देख रहा हूँ।' मैंने उनसे मुस्कराकर कहा—'जिसमें धन का लाभ है, वह क्या धनाढ्यों के साथ ऐसा बर्ताव कभी कर सकता है?' तब पुष्करदासजी ने कहा—'बाबूजी! बाबाजी की लीला अपरम्पार मुझ से कुछ भी नहीं समझी जाती; क्रोध और लोभ तो उनमें सदेव देखता हूँ। वे सदैव सबके साथ समान भाव से कलह-विवाद

तथा अपशब्द व्यवहार करते हैं और पैसा, द्रव्यादि इस प्रकार से पास अपने रक्खे रहते हैं कि उनके यहाँ जाना ही कठिन हो जाता है। आचरण में ऐसा दिखाते हैं कि मानो चीज बस्तु, रुपये पैसे की चोरी हो जाने का डर उनमें सदा बना रहता है। गरीबदासजी इतने महात्मा साधु थे और वे प्राणपण करके निष्कपट भाव से उनकी सेवा करते थे, गुरु को छोड़कर वे और किसी को नहीं जानते थे, तथापि उनके साथ भी वे वैसा ही बर्त्ताव करते थे। यदि कोई सचमुच उनकी कोई वस्तु चुराकर ले जाता है, तो उसके साथ उनका पूर्व-भाव बना रहता है।' एक साधु का नाम लेकर उन्होंने कहा—'वह सदा बाबाजी के साथ रहता था, उनके साथ बैठकर गाँजा, चरस पीता था और अवसर पाने पर उनकी चीज, बस्तु चुराता था; कितनी ही बार वह पकड़ा गया है, उस समय उसको वहनचो···ऐसा काम करता है ? तेरी माँ को···बहिन की ····इत्यादि कह-कहकर बड़ी गालियाँ देते थे; फिर वे उसके साथ पूर्ववत् व्यवहार करने लगते थे। यदि कोई स्वयं न चला जाये तो वे अपने मुँह से कभी नहीं कहते कि तू चला जा। कोई एक पैसा दे तो वे उसकी कितनी बार प्रशंसा करतें हैं और धनवान, राजा आदि श्रीवृन्दावन में आवें तो यह बात सुनकर वे यह भाव दिखलाने लगते हैं कि इस बार उनको बड़ा लाभ होगा, वह तीन-चार साधुओं को नित्य खिलाने का प्रबन्ध कर देगा, कितने ही रुपये-पैसे वे उससे पायेंगे; किन्तु जब वह उनके दर्शन को आवे तो उसकी ओर आँख उठाकर एकबार भी नहीं

देखते। यदि कोई आकर कहता है—'बाबाजीमहाराज! आप एकबार राजा से भेंट नहीं करेंगे' या कहता है—'राजा इधर आता है, अवश्य आपके दर्शन करेगा और भेंट पूजा चढ़ावेगा' तो तत्क्षण बाबाजी महाराज मानो किसी पूर्व बैर को स्मरण कर अचानक रूठकर बोल उठते हैं—'साला यहाँ आवेगा तो एक चिमटा लगा दूँगा। मैं क्या उसका नौकर हूँ कि उसकी मर्यादा करूँगा, मेरे संग इसका क्या मतलब, चला जा अन्त में, हमारे पीछे क्यों पड़ता है?' उन्मत्तवत् होकर इस प्रकार के असलग्न अश्लील वाक्यों का प्रयोग करते हैं। उनके इस प्रकार के दुर्व्यवहारों से हम सभी असन्तुष्ट होते हैं। धनवानों के साथ उनके ऐसे-ऐसे व्यवहारों की बात मैं और कितनी सुनाऊँ?'

मैंने फिर कहा—'जिसके धन का लोभ है, उसका बर्ताव क्या कभी ऐसा हो सकता है?' पुष्करदासजी ने कहा—'हाँ, बात तो ठीक है, किन्तु उनमें लोभ न होता तो वे रुपये-पैसे, चीज-वस्तु, इस प्रकार से क्यों रखते हैं और साधारण वार्त्तालाप में रुपये पैसे का इतना लोभ क्यों दिखलाते हैं?' मैंने कहा—'महापुरुषों की लीला समझना साधारण मनुष्यों के लिये कठिन है। लोगों की आँखों पर नाना प्रकार के आवरण डालकर वे आत्मगोपन करते हैं; पर जिसको कृपावश अपना करना चाहते हैं उसको कभी-कभी आत्म-परिचय भी देते हैं। जो लोग वास्तव में महापुरुष नहीं हैं, पर अपने को महापुरुष दिखाते रहते हैं, उनका चरित्र और ही प्रकार का होता है। वे भी दूसरों के आगे आत्मगोपन करते हैं,

किन्तु उनका वह विपरीत प्रकार का आत्मगोपन है—वे अपने अज्ञान को छिपाकर अपने को पूर्णज्ञ के सदृश दिखाने की चेष्टा करते हैं; किन्तु सच्चे महापुरुषों की प्रकृति उससे विपरीत होती है। वे अपनी पूर्णज्ञता को छिपाकर साधारण अज्ञानी मनुष्य के समान आचरण करते हैं। देखो, इसी व्रजभूमि में भगवान् श्री कृष्णचन्द्र ने आविर्भूत होकर कितने ही अलौकिक कर्म भी समय समय पर किये, पर उन सब कर्मों को उन्होंने इस प्रकार से किया जिससे व्रज के साधारण लोग उनको पहचान न सकें। व्रजवासी उनको साधारण मनुष्य ही समझते थे और कोई उनपर सख्यभाव, कोई वात्सल्यभाव, कोई कान्त-भाव रखते थे। केवल दिव्यदृष्टि वाले ऋषियों ने ही उनको वास्तव में पहचाना था। पूर्णज्ञ ब्रह्मर्षियों के चरित्र भी लीलामात्र होते हैं; केवल उनके चरित्र को देखकर साधारण लोग उनके तत्त्व को नहीं जान सकते हैं।'

इस प्रकार वार्त्तालाप के पश्चात् पुष्करदासजी ने कहा—'बाबूजी! मैं ये सब बातें नहीं समझ सकता, मेरी काम्यकवन के गयाकुण्ड पर जाने की प्रबल इच्छा हो रही है, इसलिये मैं तिलक-दासजी के साथ गयाकुण्ड जाऊँगा, तीन दिन में मैं फिर तुम लोगों के साथ आ मिलूँगा। तीन दिन बाबाजीमहाराज की रसोई किसी न किसी प्रकार से बन ही जायेगी।" पुष्करदासजी की दशा को देखकर मैंने अपने जी में कहा—'धन्य महाराज! यह साधु है, बीस वर्ष से आपके साथ रहता है, उसपर भी इससे इस प्रकार से आपने आत्मगोपन किया कि यह आपको कुछ भी नहीं पहचान सका।

इससे मैं यही समझ रहा हूँ कि आप स्वयं कृपाकर आत्मपरिचय न देने से तर्क विचार से कोई आप के स्वरूप को नहीं जान सकता।'

अनन्तर हम तीनों अपने-अपने आसन पर लौट आये। हम लोगों ने श्रीबाबाजी महाराज से या दूसरे किसी से इस वार्त्तालाप का भेद प्रकट नहीं किया। क्रमशः साधुओं में से कोई अपने आसन पर सो गये और कोई भजन करने लगे। रात के लगभग डेढ़ प्रहर के समय एक साधु आकर श्रीबाबाजी महाराज के पैर दाबने लगे। थोड़ी देर में वे उठ बैठे और उन्होंने उनको गाँजा देकर चढ़ाने की आज्ञा दी। वह साधु गाँजा चढ़ाते-चढ़ाते बोले—'महाराज! तुम्हारा रसोइया पुष्करदास तो तिलकदास के साथ गयाकुण्ड जाना चाहता है, तुम्हारे लिये रसोई कौन बनायेगा?' श्रीबाबाजी महाराज ने कहा—'हाँ, पुष्करदास वृद्ध को छोड़कर तिलकदास के साथ जायेगा और उसने बाबूजी से कहा है कि मैं बड़ा क्रोधी हूँ, बड़ा लोभी हूँ। तो भैया मैं तो वृद्ध हूँ, मैं क्या कर सकता हूँ? मैं जब असहाय वृद्ध हूँ, तब भगवान् मेरे लिये भी कोई न कोई प्रबन्ध कर ही देंगे।' मैंने उनकी यह बात सुनकर श्रीअभयनारायण जी से कहा—'आप सुनते हैं? एकान्त में पुष्करदास ने हमसे जो बातें कीं, वे भी श्रीबाबाजी महाराज को विदित हो गई हैं।' गाँजा पीकर वह साधु चले गये, हम सब लोग भी सो गये। दूसरे दिन प्रातःकाल कदमखण्डी से साधुओं की जमात उठी। जमात के आधे साधु गयाकुण्ड न जाकर श्रीबाबाजी महाराज के साथ चले। एक बड़े निष्ठावान् अच्छे ब्राह्मण साधु ने आकर बड़े प्रेम से

श्रीबाबाजी महाराज को रसोई बनाने के लिये अपने को समर्पण किया। तीन दिन पश्चात् परिक्रमा के निर्दिष्ट स्थान 'गेंड़ोई' में तिलकदासजी जमात के दूसरे भाग को लेकर श्रीबाबाजी महाराज से मिले, पुष्करदासजी भी आकर फिर उनको रसोई के काम में लग गये। उनके साथ श्रीबाबाजी महाराज के व्यवहार में कोई भी परिवर्त्तन देखने में नहीं आया।

फिर श्रीताराकिशोरजी ने लिखा है –"पुष्करदासजी के विषय में और भी कई घटनाओं का उल्लेख किया जा रहा है। मैंने पीछे जाना कि इस घटना से पहले पुष्करदासजी ने दो बार खाद्य-पदार्थ के साथ सङ्खिया मिलाकर श्रीबाबाजी महाराज को खिला दिया था। एकबार उन्होंने भङ्ग के साथ सङ्खिया मिलाकर उनको पिला दिया। बड़े-बड़े तीन महन्त वह भङ्ग पीकर अचेत हो गये थे, पर उस भङ्ग का अधिक भाग पी जाने से भी श्रीबाबाजी महाराज पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। महन्तों के अचेत हो जाने पर श्रीबाबाजी महाराज ने अपने कमण्डलु के जल से छींटे मार मार कर उनमें चेतना-सञ्चार किया। तब महन्तों ने पुष्करदासजी को पकड़ कर पुलिस में दे देना चाहा। इस पर श्रीबाबाजी महाराज ने कहा—'यह अपने कर्म का फल अपने आप ही भोगेगा। तुम लोग तो चेतना-प्राप्त हुए हो, तुम्हारा तो कोई भी अनिष्ट नहीं हुआ है; तिसपर भी तुमलोग साधु होकर क्यों पुलिस से नालिश करने जाओगे ?' महन्तों ने कहा –'यह हत्याकारी है, इसको हम पुलिस के हाथों में अवश्य ही समर्पण कर देंगे।' उन्होंने कहा 'तुम चाहो

तो पुलिस के यहाँ जा सकते हो, पर इसका तुम कुछ न कर सकोगे; मैं कहूँगा कि तुमने जो भंग पिया था वही भंग तुम लोगों से बहुत अधिक मैंने पिया था, पर मुझ पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा, इसलिये तुम्हारी नालिश से इसका कुछ भी नहीं होगा, तुम्हीं को लज्जित होना पड़ेगा।' यह बात सुनकर महन्त लोग निरस्त हो गये और पुष्करदासजी छुटकारा पा गये।

एक बार और पुष्करदासजी ने श्रीबाबाजी महाराज को खाद्य पदार्थ के साथ वैसा ही जहर दिया था, पर उसबार भी किसी से बिना कुछ कहे उन्होंने उस जहर को पचा लिया था। पुष्करदासजी को धारणा थी कि श्रीबाबाजी महाराज की कमर में जो काष्ठ का आड़बन्द है उसके अन्दर पोल है, जिसमें उन्होंने मोहरें छिपाकर रखी हैं। इसलिये वे चाहते थे कि उनको मारकर उन मोहरों के साथ आड़बन्द को ले लेवे। पर दो बार जहर देकर भी जब वह उनको मार नहीं सका, तब उसने और एक उपाय निकाला। आगरा पुष्करदासजी का जन्म स्थान था। एक बार श्रीबाबाजी महाराज विचरते-विचरते आगरे में पहुँचे। पुष्करदास-जी ने वहाँ के कुछ चोरों के साथ मिलकर उनके वध का उपाय किया। एक दिन अर्धरात्रि के पश्चात् एक ऊँचे टीले के नीचे अपने आसन पर श्रीबाबाजी महाराज को सोते देखकर वह उन चोरों के साथ टीले के ऊपर गये और वहाँ से दो मन से भी अधिक भारी एक पत्थर को तीनों ने मिलकर उनके ऊपर गिरा दिया। वह पत्थर उनकी दक्षिण-भुजा के ऊपरी भाग में जा पड़ा।

उससे उनको बड़ी चोट आई; पर उस समय उठकर बायें हाथ से अपनी बड़ी लाठी को पकड़कर वे खड़े हो गये। यह देखकर चोरों ने समझा कि उनको चोट नहीं लगी तथा वह स्वस्थ हैं। यह समझकर वे तत्काल ही भाग गये। किन्तु पुष्करदासजी इस दिखावे से उनके पास आये कि मानो वह कुछ भी नहीं जानते हैं। श्रीबाबाजी महाराज ने उनको चोरों के साथ देखा था, पर यह यह दिखावट कर कि मानो उन्होंने चोरों के साथ उनको नहीं देखा, वे उनको संग लेकर तत्काल ही वहाँ से चल दिये और रातों-रात दूसरे स्थान पर पहुँचे। उस पत्थर की चोट लगने से उनकी एक नस कट गयी थी और हड्डी में भी अधिक चोट लगी थी। कई दिन दुःख झेलकर वे आरोग्य हो गये, पर जब तक उनका शरीर रहा तब तक उस चोट के स्थान पर तथा तत्संलग्न अपर नलियों के संयोग स्थान पर वे समय-समय पर पीड़ा अनुभव किया करते थे। पुष्करदासजी के इस प्रकार के व्यवहार की बातें उन्होंने स्वयं कथा-प्रसंग में मुझ से कही थीं।

उनके साथ ऐसा व्यवहार करने पर भी पुष्करदासजी समय-समय पर उनको रसोई बनाते और उनके संग रहते थे। इस विषय में वे उनसे कभी भी कुछ नहीं कहते थे। मैंने उनसे इसका कारण पूछा तो उन्होंने कहा—'बाबा! कोई किसी को दुःख नहीं दे सकता, अपने-अपने कर्म ही से सब लोग सुख-दुःख भोगते हैं। पुष्करदास ने मेरा किया ही क्या है? मैं तो सदा ही एक अखण्ड रहा हूँ। वह मेरा क्या कर सकता है कि मैं उसको निकाल

बाहर करूँ या तिरस्कृत करूँ? बाबा! तुमसे मैं सच कहता हूँ कि मेरे शरीर के सुख-दुःख की मुझको खबर नहीं रहती है।' इन सब बातों को सुनकर मैंने मन ही मन केवल धन्य महाराज' कहा और अवाक् रह गया।

पहली बार की परिक्रमा के कई वर्ष पश्चात् मुझे एक मनुष्य ने तार के द्वारा समाचार भेजा कि श्रीबाबाजी महाराज अत्यन्त अधिक पीड़ित हुए हैं, मुझको तुरन्त श्रीबृन्दावन में पहुँचना चाहिये। मैंने तार पाकर उसी दिन श्रीअभयनारायणजी के साथ कलकत्ते से श्रीबृन्दावन की यात्रा की। वहाँ पहुँचकर देखा कि श्रीबाबाजी महाराज का शरीर कुछ अस्वस्थ है और वे कुछ भी आहार नहीं कर सकते। व्रजवासियों ने एक डाक्टर को बुलाकर उनकी चिकित्सा में नियुक्त किया है, उनकी कमर की लकड़ी का आडवन्द आरी से काटकर खोल दिया गया है और उन्होंने कपड़े की लंगोटी बाँध ली है। मुझे ज्ञात हुआ कि इस बार पुष्करदासजी ने रोटी के साथ मिलाकर दो तोला संखिया उनको खिला दिया है। उस रोटी को खाकर जब वे आचमन करने को गये, तब अचानक उनका सिर एक काठ की खूँटी से लगा और ये आहत हुए। तत्पश्चात् वे बिछौनेपर आ लेटे। उनका पेट फूल गया। व्रजवासियों ने उनसे आज्ञा लेकर उनकी कमर का आड़बन्द आरी से कटवा कर निकाल डाला। हम लोग जब पहुँचे, तब उनके पेट का फूलना घट गया था पर उनके आहार की रुचि नहीं थी। पुष्करदासजी के जहर खिला देने की बात उन्होंने तब भी किसी से नहीं कही थी। मैंने कलकत्ते में तार पाकर उनकी

अस्वस्थता की सूचना मित्रों को दी, तो श्रीअभयनारायणजी से वह सन्देश पाकर श्रीविजयकृष्ण गोस्वामीप्रभु ने यह अभिमत प्रकट किया था कि श्रीबाबाजी महाराज का शरीर सिद्ध है, उनको किसी प्रकार का रोग नहीं हो सकता। किसी साधु ने उनको जहर खिला दिया है, नहीं तो और किसी कारण से वे अस्वस्थ न होते। श्रीवृन्दावन में पहुँचकर मैंने वह बात कही तो श्रीबाबाजी महाराज मुस्कराकर बोले—'देखो, कलकत्ते में बैठकर कैसे महात्मा को यहाँ की खबर मिल गई! बाबा! पुष्करदास ने इस वक्त दो तोला संखिया मुझको रोटी के संग दे दिया। अब मेरा शरीर वृद्ध हो गया है, इस वास्ते संखिया ने शरीर को दुःख दिया।'

मैं उनको इस बात को सुनकर आश्चर्य हो गया। देखा पुष्करदासजी तब भी उनके रसोइया बने हुये हैं और उनके लिये अरारोट आदि जो कुछ पथ्य की डाक्टर ने व्यवस्था की है, उन सभी को पुष्करदासजी ही बनाकर उनको दे रहे हैं। मैंने सोच-विचार कर तथा श्रीअभयनारायणजी से परामर्श कर एक दिन श्रीबाबाजी महाराज से कहा—'महाराज! इस पुष्करदासजी ने आपको तीन बार जहर खिलाया, तब भी वह आश्रम में रहकर अब तक रसोई का काम कर रहा है. हम लोगों से यह सहा नहीं जाता, इनको आश्रम से निकाल देना उचित है।' श्रीबाबाजी महाराज ने कहा—'बाबा! अब इस का भ्रम मिट गया। इसके मन में था कि मेरे आड़बन्द के भीतर बहुत अशर्फियाँ हैं, मुझको मारकर वह सब अशर्फी ले लेगा। अब आड़बन्द कट गया, उसका

भ्रम भी मिट गया; बाकी तुम्हारी मर्जी हो तो इसको अभी निकाल दो।

मैंने अपने जी में विचारा कि श्रीपुष्करदासजी साधु हैं और सदैव आश्रम में रहते हैं, मैं आगन्तुक-मात्र होकर कैसे उनसे कहूँ कि आप आश्रम से निकल जाइये। मैं ऐसा सोचता और आगा-पीछा करता ही था कि देखकर श्रीबाबाजी महाराज ने कहा – 'अच्छा, मैं ही इससे चले जाने को कह देता हूँ।' यह कहकर वे आसन से उठे और धूनी के घर में जाकर श्रीपुष्करदासजी से बोले—'तुम से रसोई कुछ नहीं बनती है, तुम सदा रसोई में ज्यादा रामरस (लवण) डाल देते हो और मुझको जहर भी तुमने दे दिया, तुम आश्रम में अब मत रहो काला-मुँड़ा करके अभी निकल जाओ।' पुष्करदासजी कुछ न कहकर आश्रम को छोड़कर चले गये। हमलोग श्रीबाबाजी महाराज की उन बातों को विचारकर अवाक् रह गये। रसोई में अधिक लवण डालने का अपराध और रोटी में जहर मिलाने का अपराध उनके निकट बराबर है। उन दोनों कामों को समान भाव से मानकर उन्होंने पुष्करदासजी से कहा—'चले जाओ।' विष और लवण उनकी दृष्टि में तुल्य हैं।

पुष्करदासजी के चले जाने पर मौनीजी रसोई बनाने लगे। किन्तु श्रीबाबाजी महाराज की आहार में रुचि उत्पन्न नहीं हुई। डाक्टर ने कहा—'वे बहुत गाँजा-चरस पीते हैं, इसलिये औषधि गुण नहीं करती।' यह सुनकर श्रीबाबाजी महाराज ने कहा – 'तुम कहो तो मैं गाँजा-चरस अभी छोड़ सकता हूँ।' डाक्टर ने कहा—

'हाँ, ऐसा होने से ही अच्छा होगा।' उन्होंने कहा— अच्छा, तो मैं गाँजा-चरस और न पीऊँगा।' तभी से उन्होंने गाँजा चरस पीना बन्द कर दिया। लगभग सौ वर्ष का अभ्यास उन्होंने एक दम त्याग कर दिया। गाँजा-चरस पीने का अभ्यास उनका इतना अधिक था कि (मैंने दूसरे साधुओं से सुना है) किसी दूसरे साधु से उतना अधिक गाँजा चरस नहीं पीया जा सकता था। दीपदान के उपलक्ष में गिरिराज के मानसीगङ्गा पर साधुओं की जमात पड़ती है। मैंने एक बार वहाँ श्री बाबाजी महाराज के साथ रहकर अपनी आँखों से देखा है कि प्रातःकाल से आरम्भ कर रात के दस बजे तक वे निरन्तर चिलम के पश्चात् चिलम गाँजा और चरस पीते थे। किन्तु इससे उनकी आँखों में किसी प्रकार का विकार न देखकर मैंने आश्चर्यान्वित हो कर उनसे पूछा—'महाराज ! आप दिन भर आज केवल गाँजा-चरस का धूम्रपान ही कर रहे हैं, पर आप की आँखों में किसी प्रकार का विकार क्यों नहीं दिखाई पड़ता ? दूसरे जिन साधुओं ने आप के साथ दो तीन चिलम पिया है उन सभी की आँखें सुर्ख होकर छोटी हो गयी हैं, पर आप की आँखें प्रातःकाल में जैसी थीं, इतना धूम्रपान करने पर भी ठीक वैसी ही बनी हुई हैं ! क्या आप को नशा नहीं होता ?' श्रीबाबाजी महाराज ने हँसकर कहा—'बाबा ! जिसको भगवत् का अमल मिल गया है, उसके ऊपर और किसी तरह का अमल चढ़ता नहीं।'

जो हो, सारे जीवन की धूमपान का अभ्यास उन्होंने डाक्टर के कहने से बात ही बात में छोड़ दिया। उन्होंने तम्बाकू तक

पीना छोड़ दिया। हम लोगों ने देखकर आश्चर्य माना और व्रजवासियों ने भी धन्य-धन्य किया और कहा कि और किसी में यह सामर्थ्य नहीं है कि इतने दिनों के अभ्यास को इस प्रकार एकदम छोड़ दे।

श्रीबाबाजी महाराज के धूमपान छोड़ देने पर भी उनपर औषधि का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। हमलोगों ने दूसरा डाक्टर बुलवाया। वे बोले—'इतने दिनों के अभ्यस्त धूमपान को एकदम छोड़ देना ठीक नहीं है। दिन में कम से कम एकबार तम्बाकू पीना इनके लिये अच्छा होगा। तब से श्रीबाबाजी महाराज ने नित्य अपराह्न में एकबार तम्बाकू पीना आरम्भ किया और अन्त तक यह अभ्यास स्थिर रक्खा था। कुछ दिनों में उनकी आहार में कुछ रुचि होते देखकर हमलोग कुछ आश्वासित होकर कलकत्ता लौटे।

अन्य एकबार परिक्रमा में और एक घटना घटी थी, उस का भी यहाँ उल्लेख किया जाता है। एकबार साधुओं की जमात जब पैगाम में पहुँची और सब साधुलोगों ने आसन लगाये, तब कुछ देर में एक अति प्राचीन परमहंस वहाँ आये। उनको वहाँ आते देखकर तिलकदासजी आदि महन्त साधुओं ने बहुत सम्मान किया। वे बोले कि ये बड़े ही सिद्ध महात्मा हैं, ऐसे महात्मा व्रज-धाम में और कोई नहीं हैं। उनके विषय में हमलोगों के पूछने पर साधुओं ने कहा कि कोई नहीं जानता कि ये कहाँ रहते हैं, किसी जङ्गल में रहते होंगे, कभी-कभी कृपाकर प्रकट होते हैं और दर्शन देते हैं। उन सब ने उनके अनेकानेक अद्भुत और अलौकिक कर्मों

का भी वर्णन किया। जब परमहंसजीने पैगाम में आकर आधुओं की जमात के एक अन्त-भाग में कुण्ड के निकट अपना आसन लगाया तब श्रीअभयनारायणजी उनके पास जा बैठे और उनके साथ अनेक प्रकार की बातचीत करने लगे। उस वर्ष व्रज में अतिशय अनावृष्टि हुई थी, जिससे कुण्ड का अधिकांश जल सूख गया था, जो थोड़ा सा जल अवशिष्ट था उसमें इतने कीड़े पड़े थे कि वह अव्यवहार्य था। बात ही बात में श्रीअभयनारायणजी ने कहा—'महाराज! इस कुण्ड के जल में इतने कीड़े हो गये हैं कि जल अपवित्र और अव्यवहार्य हो गया है।' यह सुनकर परमहंसजी ने कहा—'यहाँ तो यमुनाजी बहती हैं, यहाँ अपवित्र जल कहाँ?' श्रीअभयनारायणजी ने कहा—'अपनी आँखों से तो मैं कीड़ों से भरा हुआ अपवित्र जल ही देख रहा हूँ।' परमहंसजी चुप रह गये। तत्पश्चात् श्रीअभय-नारायणजी ने कुछ जलेबियाँ खरीदकर परमहंसजी को खाने के लिये दीं, उनमें से उन्होंने कुछ भाग रख लिया और कुछ भाग श्रीअभय-नारायणजी को खाने के लिये दिया। श्रीअभयनारायणजी उसको लेकर कुण्ड के किनारे जाकर बैठे और खाते-खाते उन्होंने कुण्ड की ओर ताका तो देखा कि वहाँ कुण्ड नहीं है, उस स्थान पर यमुनाजी कल-कल स्वर से लहरें उछाल कर बह रही हैं और नाना-प्रकार के पक्षी उसके ऊपर मन्दगति से उड़-उड़ कर खेल रहे हैं। इसको अपनी दृष्टि का भ्रम समझकर वे आखों को मल-मलकर बारबार कुण्ड को देखने लगे; किन्तु उस स्थान पर बड़ी देर तक उनका यमुना-दर्शन अटल बना रहा। इस पर वे चकित

होकर इसको परमहंसजी का प्रभाव समझकर उनको धन्यवाद देने लगे। दूसरे दिन प्रातः काल में जब श्रीठाकुरजी की आरती हो रही थी, उस समय उन्होंने देखा कि परमहंसजी हमारी रावटी के निकट आकर खड़े हुए और आरती समाप्त होने पर उन्होंने चुपचाप दूर से श्रीबाबाजी महाराज की प्रदक्षिणा कर धरती पर लुण्ठित होकर उनको साष्टाङ्ग दण्डवत् किया और श्रीबाबाजी महाराज ने हाथ उठाकर उनको आशीर्वाद किया, तब श्रीअभयनारायणजी ने श्रीबाबाजी महराज से कहा—'महाराज! ये परमहंसजी बड़े सिद्ध महात्मा हैं, क्या उनको आपके आसन के पास बुला लाऊँ?' श्रीबाबाजी महाराजने मुस्कराकर कहा—'बाबा! परमहंसजी को बुलाने की मुझे कोई आवश्यकता नहीं, उनके गुरु-ब्रह्मा आप आ जायेंगे तो भी अपने आसन पर उनको मैं अपने से नहीं बुलाता हूँ, बाकी तुम्हारा प्रेम हो तो तुम बुला लो, यहाँ तम्बाकू, गाँजा, सुल्फा, भंग सब कुछ धरा है, जो पीयें उनको पिलाओ, इसमें कुछ मना नहीं। श्रीअभयनारायणजी ने यह सुनकर और कुछ नहीं कहा। दण्डवत् करके परमहंसजी अपने आसन पर लौट गये।"

श्री रामदासजी के सभी आचरण शास्त्रानुकूल थे। किसी शिष्य को या साधु को वे शास्त्रविधि का उल्लंघन करते देखते तो गुरु के रूप से शिष्य पर तथा महन्त के रूप से साधु पर अतिशय शासन करते थे। इस सम्बन्ध में कुछ घटनाओं का इस स्थान में उल्लेख करता हूँ।

पहले ही मैं कह चुका हूँ कि पैगाम में श्रीनागाजी महाराज ने

जन्म लिया था। व्रजपरिक्रमा करती हुई साधुओं की जमात यहाँ दो दिन टिकती है। यहाँ श्रीनागाजी महाराज ने चतुर्भुजमूर्त्ति धारण कर पितृपक्ष की सप्तमी तिथि में अपने जन्मस्थान के लोगों को दर्शन दिया था और सब को अन्न का प्रसाद बाँटा था। तब से प्रतिवर्ष उस सप्तमी तिथि में वहाँ व्रजवासियों का एक बड़ा मेला लगता है। श्रीनागाजी महाराज की एक मूर्ति भी वहाँ स्थापित है। श्रीनागाजी महाराज को उस दिन अन्न (भात) का भोग लगाया जाता है। साधु-सन्त उस भोग का प्रसाद पाते हैं और व्रजवासी भी उसे लेते हैं। जैसे जगन्नाथजी के क्षेत्र में महाप्रसाद में उच्छिष्ट दोष नहीं होता है, वैसे ही उस तिथि में श्रीनागाजी महाराज के प्रसाद में भी उच्छिष्ट दोष नहीं माना जाता है। व्रजवासी छीन-झपट कर साधुओं का उच्छिष्ट अन्न उस दिन खाते हैं, जाति का विचार नहीं करते हैं। उस दिन व्रज के पहलवान लोग विभिन्न स्थानों से आकर अपना युद्ध-कौशल दिखलाते हैं। व्रज की गोपियाँ दलों में इकट्ठी होकर वहाँ आती हैं और स्वयं नृत्य कर और श्रीकृष्ण की लीलाएँ गाकर आनन्द से दिन व्यतीत करती हैं। रासधारी भी आकर भगवान् की लीलाएँ दिखलाते हैं। इस प्रकार आनन्द से वहाँ सप्तमी का दिन बीतता है। साधुओं की जमात अष्टमी के दिन भी वहाँ रहती है। उस अष्टमी के दिन व्रजवासी लोग साधुओं के भोजन के लिये आटा न देकर प्रायः दाल और चावल देते हैं। श्रीताराकिशोरजी ने लिखा है—"श्रीबाबाजी महाराज के सङ्ग साधुओं की जमात में रहने वाले हम सब बङ्गा-

लियों के लिये एक अलग स्थान में रसोई बनाई जाती थी। श्रीबाबाजी महाराज के लिये एक निभृत स्थान को चारों ओर से कपड़े से वेष्टित कर कोई ब्राह्मण-साधु पृथक् रसोई बनाते थे। एकबार हमारी रसोई बन जाने पर हम सभी ने भोजन कर लिया और तत्पश्चात् थाली, बटलोही आदि परिष्कृत कर हम लोग अपनी रावटी में लौट आये। तब दो बजे होंगे। तब तक श्रीबाबाजी महाराज की और दूसरे साधुओं की रसोई नहीं बनी थी। उस समय में किसी काम से जहाँ उनकी रसोई बनती थी वहाँ गया। कपड़े के जिस पर्दे से रसोई का स्थान वेष्टित था वह पर्दा यकायक मेरे शरीर से छू गया। उसी समय ही श्रीबाबाजी महाराज ने चिल्लाकर कहा—'अरे, इस मूढ़ ने सब रसोई भ्रष्ट कर दी, मैं उस में से कुछ नहीं खाऊंगा, सब फेंक दो।' रसोइयाजी ने कहा—'बाबूजी ने तो कुछ नहीं किया, पर्दा तो रसोई के स्थान से बड़ी दूर है, पर्दा ही उनके शरीर से छू गया है, पर रसोई की कोई भी वस्तु तो उन्होंने नहीं छूई?' श्रीबाबाजी महाराज ने कहा—'न, ये सब मैं नहीं खाऊँगा, मेरे लिये पृथक् रोटी बना दो, स्थान को परिष्कृत करो, तुम मेरे धर्म को भ्रष्ट करना चाहते हो।' रसोइयाजी ने कहा—'अच्छा महाराज! आप के लिये पृथक् रोटी बना देता हूँ।' तब मैं चुपचाप बड़े ही दुःखित हृदय से अपने को अपराधी मानकर उस स्थान से धीरे-धीरे कुछ दूर जाकर बैठा और यह सोचता हुआ पछताने लगा कि—'एक तो गुरुमहाराज के आहार से पहले ही मैं भोजन कर चुका हूँ, जो बड़ा भारी अपराध

है—यह 'नित्य' ही करता हूँ और इसके अतिरिक्त यह अपराध भी कर बैठा कि इतनी देर के बाद बनी हुई उनकी रसोई को भी मैंने नष्ट कर दिया; अब फिर सब कुछ परिष्कृत किये जायेंगे तब कहीं फिर से उनकी रोटी बनेगी और रात्रि से पहले उनको भोजन नहीं मिलेगा।' मैं इस प्रकार खेद कर रहा था, इतने में पेशाब करने के बहाने श्रीबाबाजी महाराज उसी स्थान पर आये और प्रसन्न वदन मुझ से बोले—'बाबा, तुम क्यों खेद कर रहे हो? तुम तो जानते हो कि मैं भात नहीं खाता हूँ, क्योंकि भात खाने से मेरे शरीर में वही चंदोर के चोट का दर्द होता है। इसीलिये रोटी खाने की इच्छा मैंने प्रकट की है, रोटी अभी बन जायेगी, विलम्ब न होगा। तुम खेद मत करो, तुम्हारा शरीर और मेरा शरीर एक ही है। तुम्हारे छूने से मेरे भोजन की वस्तु में कुछ दोष नहीं हो सकता है, पर साधुओं को अपने नियम में प्रतिष्ठित रखने के लिये ऐसे बाह्य-व्यवहार किया करता हूँ।' तत्पश्चात् मानो मुझे यह समझाने के लिये कि वे वास्तव में कोई भेद-बुद्धि नहीं रखते, एक दिन आश्रम में अकेले आहार करते समय मुझे बुलाकर और अपने पास बैठाकर उन्होंने मुझे छू कर मेरे हाथ में रोटी का प्रसाद दिया और आहार करने लगे। उन्होंने कहा—'देखो तो, शाक में रामरस (लवण) अधिक तो नहीं पड़ा है?' उन्होंने इस प्रकार से बाह्य-भाव दिखलाया कि मानो मुझ से रामरस की परीक्षा के लिये ही मुझे उन्होंने बुलाया और प्रसाद दिया।

एक और दिन ललितासखी के जन्मस्थान करेला गाँव में

साधुओं की जमात पड़ी थी। व्रजगोपियाँ दलों में आकर उनके सामने नाचने लगीं। श्रीबाबाजी महाराज ने उनको दिखाकर कहा—'देखो, गोपियों के आनन्द और प्रेम को देखो, यहाँ इनका इतना आनन्द देखते हो, किन्तु इनके घर में जाकर मालूम करो तो पता चलेगा कि बहुतों के घर में रात्रि के भोजन तक के लिये कुछ भी नहीं है। बाबा, इस व्रजभूमि में ही ऐसा आनन्द सम्भव है। इनके इस प्रकार कहने से अन्यान्य देशों के प्रसङ्ग होने लगे। बात ही बात में जगन्नाथपुरी की बात उठाकर श्रीबाबाजी महाराज ने कहा—'बाबा, पुरीधाम में रघुवरदास नाम के एक बड़े ही महात्मा सिद्ध पुरुष थे। एकबार रथयात्रा के समय में वहाँ गया। श्रीजगन्नाथजी रथ के ऊपर विराजमान थे; बहुत यात्री मिलकर रथ को खींचते थे, किन्तु रथ नहीं चला। तब साहब ने आकर रथ को खींचने के लिये हाथी लगाया, किन्तु उससे भी रथ नहीं चला; तब साहब ने रघुवरदासजी को वहाँ देखकर कुछ हँसी उड़ाकर उनसे कहा—'रघुवरदासजी, तुम्हारा इष्ट कैसा है! हमने हाथी तक लगाया, तब भी उनका रथ चलता ही नहीं, अब हम क्या करेंगे?' तब रघुवरदासजी ने चुपचाप रथ के ऊपर उटकर जगन्नाथजी के कान में कुछ कहा, बस तत्काल ही रथ घड़घड़ाकर चलने लगा। तब शिर से टोप उतार कर साहब ने रघुवरदासजी को सलाम किया और कहा—'रघुवरदासजी! तुम सच्चे हो, तुम्हारा इष्ट भी सच्चा है।'

'रघुवरदासजी ऐसे महात्मा थे कि वे जिस स्थान पर रहते

थे, वहाँ खुले स्थान में एक गमले में महाप्रसाद रख देते थे और उससे कुत्ते, कौवे आदि जीव-जन्तु प्रसाद खा जाते थे, वे भी आवश्यकतानुसार उसी में से प्रसाद लेकर खाते थे।' यह सुनकर श्रीअभयनारायणजी ने पूछा—'महाराज! आप महात्मा होकर आहार के सम्बन्ध में इतने कठिन नियम क्यों पालन करते हैं?' माधवदास नामक परमहंस भी इस बातचीत के समय वहाँ उपस्थित थे, वे परमहंसवृत्ति को पालते हुए आहारादि के विषय में कोई नियम पालन नहीं करते थे। वे अभयनारायणजी के उस प्रश्न को सुनकर बड़े प्रसन्न होकर बोल उठे—'वाहजी! इन्होंने तो द्वितीय अर्जुन का सा प्रश्न किया है।' तब श्रीबाबाजी महाराजने कहा—'बाबा! मुझको तो इसी में राम मिल गया, इसमें न मिलता तो मैं भी उनकी वृत्ति ले लेता। बाबा, उनका रास्ता और है, मेरा रास्ता और है।'

परिक्रमा के समय भगवल्लीला स्थानों के दर्शन करते करते साधुओं की जमात बरसाने के पिरीपोखर पर आकर तीन दिन रहती है। वह एकादशी तिथि को वहाँ पहुँचती है, द्वादशी के दिन प्रेमसरोवर में नौका-लीला होती है और त्रयोदशी को बरसाने के गह्वरवन नामक स्थान में दधि लूटने की लीला होती है। इन सब लीलाओं के दर्शन कर साधु लोग चतुर्दशी के दिन प्रातःकाल पिरीपोखर से उठकर नागाजी की कदमखण्डी में जाते हैं। बरसाने के एक ऊँचे पहाड़ के ऊपर प्रियाजी (श्रीराधिकाजी) का मन्दिर है। उस पहाड़ के नीचे से कदमखण्डी जाने का रास्ता है। एकबार

परिक्रमा के समय पिरीपोखर से प्रियाजी के मन्दिर में जाकर उनके दर्शन करने का अवकाश मुझे नहीं मिला। अन्तिम दिन भी अवकाश न मिलने से मैंने मन में विचारा कि कल प्रातःकाल में जब इस स्थान से उठकर साधुओं की जमात कदमखण्डी के लिये यात्रा करेगी, तब मैं झटपट पहाड़ पर चढ़कर प्रियाजी के दर्शन और दण्डवत् कर जाऊँगा। किन्तु दूसरे दिन बैलगाड़ी पर सामग्री लदवाकर चलते समय मैंने देखा कि श्रीबाबाजी महाराज की गङ्गा नाम की गौ रह गई है, उसको किसी ने संग में नहीं लिया। उसकी सेवा करने वाले साधु भी चले गये हैं इसलिये मैं ही उसको लेकर चला। प्रियाजी के मन्दिरवाले पहाड़ के पास जब मैं पहुँचा तब उनके दर्शन की लालसा बढ़ी, किन्तु गौ को छोड़कर जाने से वह किसी ओर भाग सकती है, इस-आशङ्का से मुझको पहाड़ पर चढ़ने का साहस नहीं हुआ। तब मैंने यह विचारा कि इस समय प्रियाजी के दर्शन भाग्य में नहीं हैं, क्योंकि गौ को छोड़कर जाना उचित नहीं है और भगवान् को लाभ करने से ही प्रियाजी का माहात्म्य हुआ है, मेरे गुरुमहाराज ने भी भगवान् को लाभ किया है; इसलिये उनके दर्शन से ही मेरे प्रियाजी के दर्शन हो जायेंगे, अतः गौ के संग शीघ्र जाकर उनके ही दर्शन करूँगा। गौ को लेकर कुछ दूर जाते ही एक साधु ने आकर मेरे पास से गौ को ले लिया और मैं अकेला ही चलने लगा। कुछ दूर आगे बढ़कर मैंने देखा कि श्रीबाबाजी महाराज खड़े हैं। मुझे देखकर उन्होंने 'आओ, आओ' कहकर पुकारा। मैंने उनके पास पहुँचकर उनको

दण्डवत् प्रणाम किया और जब उनके साथ चलने लगा, तब पहले ही उन्होंने मुस्कराकर कर कहा—'बाबा, प्रियाजी के दर्शन और सन्तन के दर्शन एक ही हैं, इन में कुछ भी भेद नहीं है।' मैंने पहले ही ऐसा सिद्धान्त बना लिया था, इसलिये उनकी बात से मेरा मन भर गया।

फिर चलते-चलते अत्यन्त स्नेहपूर्वक नाना प्रसङ्ग छेड़कर श्रीबाबाजी महाराज मुझे उपदेश देने लगे। गरीबदासजी के साथ वे कैसा बर्त्ताव करते थे, उनके गुरुमहाराज उनसे कैसा बर्ताव करते थे, इन सब बातों को वे मुझे सुनाने लगे। गरीबदासजी की बहुत प्रशंसा करके और उनकी गुरु-निष्ठा-प्रकाशक अनेक घटनाओं का वर्णन करके अन्त में उन्होंने कहा—'बाबा! गरीबदास तो यथार्थ ही शान्त हो गया था, उसके क्रोध, अभिमान आदि का अन्त हुआ है कि नहीं यह परीक्षा करने के लिये मैं प्रायः अनेक समय पर नाना प्रकार के छल करके उसके साथ बड़ा ही कठोर व्यवहार करता था। गरीबदास बड़े ही प्रेम से और अत्यन्त सावधान होकर मेरी सेवा-शुश्रूषा करता था। मैं गुप्तभाव से उससे छिपाकर रसोई की सामग्रियों को तथा अन्यान्य वस्तुओं को उलट-पलट देता था और गरीबदास के आने पर उन सब बातों का दोषारोप उसी पर करता था तथा सबके सामने मैं कठोर भाषा से उसको तिरस्कार करता था। किन्तु इतने पर भी गरीबदास कभी धैर्यच्युत नहीं होता था और मेरी बातों का किसी प्रकार प्रत्युत्तर दिये बिना चुपचाप उन उलट-फेरों को सुधार लेता था।

ऐसी स्थिति में उसकी अन्तिम परीक्षा करने के विचार से मैं उपयुक्त समय की प्रतीक्षा करने लगा। व्रजपरिक्रमा में नन्दग्राम से कामई जाने में सूर्य को सामने कर पूर्व दिशा की ओर चलना पड़ता है। कमाई नन्दग्राम से पाँच कोस पड़ता है और मार्ग भी प्रायः जल और कर्दम से परिपूर्ण रहता था। गरीबदास मेरा सामान कन्धे पर लेकर जाता था और चालीस-पचास साधुओं के लिये रसोई बनाकर खिला देने के पश्चात् आप खाता था। एकबार परिक्रमा के समय नन्दग्राम से कामई पहुँचने में लगभग दो प्रहर दिन चढ़ गया। गरीबदास ने कामई पहुँचकर नियमानुसार मेरे छाते को गाड़कर और मेरे आसन को लगाकर समस्त वस्तुओं को यथोचित स्थानों में रख दिया। तत्पश्चात् व्रजवासियों ने जब हमलोगों के भोजन की सामग्री उपस्थित की तब वह स्नान कर रसोई बनाने गया। उसने दूसरे साधुओं के लिये मोटी-मोटी रोटियाँ और मेरे लिए अलग पतले-पतले फुलके बनाये। बहुत लोगों के लिए रसोई बनाने में विलम्ब हुआ। सन्ध्या के पश्चात् रसोई बन जाने पर यथानियम ठाकुरजी का भोग लगाकर उसने प्रसाद पाने के लिये मुझे बुलाया। मैंने विचारा कि गरीबदास की धैर्य-परीक्षा का उपयुक्त समय यही है, क्योंकि प्रतिदिन भारी बोझ वहन करते हुये तथा परिक्रमा के मार्गपर चलते-चलते और नित्य वेलातिक्रम होने पर इतने साधुओं के लिये रसोई बनाते-बनाते उसके बायु और पित्त का प्रकोप अवश्य हुआ होगा, विशेषतः आज सामने की धूप तथा शरत्कालीन प्रचण्ड उत्ताप के कारण दुर्गम पथ पर इतनी दूर पैदल चलकर

अनाहार अवस्था को में रसोई के निमित्त दीर्घकाल-पर्यन्त अग्नि-सेवा करने से गरीबदास का मस्तिष्क इस समय अवश्य अतिशय उत्तप्त हुआ होगा। धैर्य-परीक्षा का यही समुचित समय है। यह विचार कर मैं गरीबदास के बुलाने पर प्रसाद पाने को गया और प्रसाद पाने के लिये बैठते ही रोटी में हाथ लगाकर कपट क्रोध से बोल उठा कि सभी रोटियाँ कच्ची रह गयी हैं। यह कहने के साथ ही मैंने गरीबदास को तिरस्कार करते हुए सब फुलके दूर फेंक दिये और एक लाठी हाथ में लेकर उसके मस्तक पर जमा दी। लाठी के आघात से उसके मस्तक से खून निकलने लगा और वह भूमि पर गिर पड़ा। किन्तु वह तुरन्त उठकर हाथ जोड़कर मेरे चरणों पर गिरा और बोला—'बाबाजी महाराज ! मुझसे अपराध हो गया है, मुझको क्षमा कीजिये।' वास्तव में गरीबदास ने रोटी बड़े यत्न से बहुत ही उत्तम बनाई थी। मैंने झूठ-मूठ उस पर दोष लगाकर उसके मस्तक पर लाठी से मारा तब भी गरीबदास के इस प्रकार विनयपूर्ण व्यवहार करने से मैं मुग्ध हो गया और उसने जो मेरी लाठी के आघात से इतना कष्ट पाया यह सोचकर मुझे इतना कष्ट हुआ कि मैं दो-तीन दिन तक आहार नहीं कर सका। गरीबदास के इस अन्तिम परीक्षा में उत्तीर्ण होने से मैं उसके प्रति अतिशय प्रसन्न हुआ और मैंने मन में विचारा कि अब गुरु से गरीबदास के वरदान पाने का उपयुक्त समय आया है, इसलिये मैं उसको वरदान दूँगा। फिर मैंने सोचा कि संसार में रहने से कुछ न कुछ कष्ट भोगना ही पड़ता है। गरीबदास ने जब

इस प्रकार की अटल शान्तिवृत्ति को लाभ किया है, तब उसको शीघ्र ही वैकुण्ठ में भेजना उचित है। यह सोचकर मैंने उसको कोई दूसरा वरदान नहीं दिया।

अपने साथ अपने गुरुमहाराज के बर्त्ताव के विषय में नाना घटनाओं का वर्णन कर श्रीबाबाजी महाराज ने अन्त में कहा कि उनके ऊपर उनके गुरुमहाराज का प्रेम इतना अधिक था कि वे कभी उनको यथार्थ शान्ति-मार्ग पर लाने का उपाय करने से नहीं चूकते थे। 'भङ्गी, चमार, पेट के वास्ते वैराग लिया' इत्यादि बातें वे सदा ही उनको सुनाते थे। श्रीबाबाजी महाराज को ऐसा कहते सुनकर मैंने पूछा—'महाराज! इस प्रकार से सदा ही जो गाली देते थे, उससे प्रेम कैसे प्रकट होता है, यह मैं समझ नहीं सका।' उन्होंने कहा—'बाबा! इसी से तो बड़ा भारी प्रेम प्रकट होता है; मुझको कोई वैसी गाली देने से कहीं क्रोध या अभिमान न आवे, इसलिये दयालु गुरुमहाराज अपने ऊपर कठोर-भाषण का दोष लेकर मेरे चित्त को निर्मल करने के लिये तथा मेरे क्रोध और अभिमान को दूर करने के लिये मुझ से ऐसा वर्त्ताव करते थे। बाबा, उनमें कोई मोह नहीं था, निर्मल प्रेम था; प्रेम और मोह एक वस्तु नहीं हैं।"

—:o:—

पञ्चम अध्याय

सद्गुरु रूप से उनकी कृपा का दिग्दर्शन

श्रीरामदासजी समय-समय पर कहा करते थे :—

"कर सद्गुरु की आश, होय घट में प्रकाश, होय तिमिर का नाश।"

उनकी इस को सुनकर श्रीताराकिशोरजी ने एकबार उनसे पूछा —"महाराज ! सद्गुरु की कृपा के बिना क्या जीव की मुक्ति नहीं हो सकती ? बहुत लोग भगवान् के नाम ग्रन्थादि से सीख कर साधन करते हैं, उससे क्या कुछ फल नहीं होता है ?" श्रीरामदासजी ने कहा—"बाबा, भगवान् के नाम का साधन करने से अनेक फल प्राप्त होते हैं, निष्ठापूर्वक साधन करते-करते नाना प्रकार की सिद्धियाँ भी प्राप्त हो सकती हैं, किन्तु मुक्ति-साधन इससे नहीं होता है; केवल सद्गुरु की कृपा से ही मुक्ति-लाभ हो सकता है; उसके बिना जीव की मुक्ति नहीं हो सकती ।"

इस प्रसंग में श्रीताराकिशोरजी ने लिखा है —"मैंने अपने जीवन में भलीभाँति परीक्षा करके जाना है कि—सद्गुरु की कृपा के बिना वास्तविक आस्तिकता नहीं आती है । एक बालक भी मेरे सामने रहे तो मैं बहुत से कुकर्मों को नहीं कर सकता। यह भी अनेक बार की परीक्षा से मैंने देखा है कि

एक बालक के सामने मुझ में कुप्रवृत्तियों का उदय भी नहीं हो सकता; किन्तु निर्जन में किसी देखनेवाले के न होने से साहस के साथ कितने ही कुकर्म मुझसे हो गये हैं। दूसरों से न देखे जाने के कारण मनमें कितनी ही कुचिन्ताओं के स्रोत बहुधा बहते रहते हैं; किन्तु अन्तर्दर्शी किसी महापुरुष के सामने में मैं जब-जब रहा हूँ, तब-तब मुझको बहुत सावधान होकर रहना पड़ा है। उस समय मुझे बहुत ही यत्न करने पड़े हैं कि मन में किसी प्रकार की कुचिन्ता न उठने पावे। इस भय से कि महापुरुष मेरे मन की सभी चिन्ताओं को जान जाते हैं, उनके समक्ष बड़ी सावधानी से मुझे समय काटना पड़ा है। किन्तु दूसरे समय कुचिन्ता के उदय होने से मुझे उतना डरना नहीं पड़ा है। क्या इससे मेरी यथार्थ आस्तिक्य-बुद्धि प्रकाशित होती है? मैं अपने मुख से तो यह कहता हूँ कि अमुक व्यक्ति नास्तिक है, मैं आस्तिक हूँ और इस कारण उसकी निन्दा भी कदाचित् करता हूँ; पर इससे क्या यह सिद्ध होता है कि मैं आस्तिक हूँ? मैं मुख से तो कह देता हूँ कि भगवान् हैं, पर इसी से क्या यह स्थिर होता है कि भगवान् के होने का मेरा विश्वास सच्चा है? यदि यह विश्वास मेरा सच्चा हो तो क्या मैं किसी प्रकार का अनुचित कर्म कर सकता हूँ तथा किसी प्रकार की कुचिन्ता मन में उठने से क्या मैं बिना अनुताप किये रह सकता हूँ? भगवान् सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापी हैं, मेरे प्रत्येक कर्म तथा मेरी प्रत्येक चिन्ता के साक्षी हैं—यही तो भगवान् का लक्षण है। भगवान् के अस्तित्व का विश्वास यदि मुझ में यथार्थ हो तो क्या भगवान् के

स्वयं वर्तमान होते हुए भी मैं वह कुकर्म कर सकता हूँ जिसको मैं पाँच वर्ष के बच्चे के आगे करने से हिचकता हूँ ? तथा मैं क्या वह बुरी चिन्ता अपने मन में उठने दे सकता हूँ जिसको मैं किसी महापुरुष के आगे इस विश्वास से मन में नहीं उठने देता कि वे मेरे हृदय के भेद को जान लेते हैं। भगवान् सर्वान्तर्यामी, सर्व-साक्षी तथा सर्वव्यापी हैं, वे मेरे समक्ष सदैव विद्यमान हैं, मेरे समस्त कार्यों और समस्त चिन्ताओं को देखते हैं; यदि मुझे इस विषय का यथार्थ विश्वास हो तो मुझसे कुकर्म किस प्रकार से हो सकता है, तथा पाप-चिन्ता किस प्रकार से मेरे मन में स्थान प्राप्त कर सकती है ? जब मैं पाप-कर्म और पाप-चिन्ता को नहीं छोड़ सकता हूँ, तो यही मानना पड़ेगा कि मैं आस्तिकता का व्यर्थ ही गर्व करता हूँ, मुझ में यथार्थ आस्तिक्य उत्पन्न नहीं हुआ है।

दयालु सद्गुरु किस प्रकार से अनुगत शिष्यों के हृदय में आस्तिक्य-बुद्धि प्रविष्ट कराते हैं, यह दिखाने के लिये मैं अपने और अपनी स्त्री के जीवन की कई एक घटनाओं का यहाँ उल्लेख करता हूँ। मैं अनुमान करता हूँ कि मेरा आभ्यन्तरिक नास्तिक्य अतिशय प्रबल होने के कारण ही दयालु गुरुमहाराज ने कृपा करके नाना समय में उनके अन्तर्यामित्व और सामर्थ्य का परिचय दिया है, नहीं तो मेरे समान शुष्क-तार्किक को किञ्चिन्मात्र भी यथार्थ आस्तिक्य-बुद्धि प्राप्त करना कठिन होता। इन सब घटनाओं से श्रीबाबाजी महाराज की अपार करुणा प्रकट होगी, इसलिये उन घटनाओं का मैं यहाँ उल्लेख करता हूँ।

कलकत्ते में एक बार मुझे प्रबल-ज्वर हुआ था। ज्वर भोग करते-करते मेरे मन में इस प्रकार की चिन्ता हुई कि श्रीगुरुजी महाराज सदैव गाँजा पीते हैं, मैं एक चिलम गाँजा मँगाकर स्वयं चढ़ाकर उनका भोग लगाऊँगा और उसके बाद उनके प्रसादी गाँजे का धूम पीऊँगा, उसी से ही मेरा यह ज्वर दूर हो जायगा। मैंने इस प्रकार चिन्ता कर बाजार से एक नयी चिलम और कुछ गाँजा मँगाया और अपने हाथ से गाँजा चढ़ाकर श्रीगुरुजीमहाराज को स्मरण कर उनके पीने के लिये उस गाँजा की चिलम को अर्पण किया। गाँजा अपने आप जल उठा और उससे थोड़ा-थोड़ा धुआँ निकलने लगा। कुछ देर तक इस प्रकार धुंआँ निकलने पर मेरे जी में यह धारणा हुई कि श्रीगुरुजीमहाराज ने उस गाँजे को पी लिया है। तत्पश्चात् मैंने उस चिलम के शेष गाँजे को पीया। गाँजा पीने का मुझे कभी अभ्यास नहीं था। किन्तु यथेष्ट गाँजे की धूम पीने से भी मेरी बुद्धि में कुछ भी विकार उत्पन्न नहीं हुआ, वरन् थोड़े ही समय में मेरा ज्वर छूट गया और मैं स्वस्थ हो गया। इसी प्रकार से और भी एक बार ज्वर होने से मैंने श्रीबाबाजी महाराज को स्मरण कर गाँजे का भोग देकर प्रसाद पीया था।

इस घटना के कई मास पश्चात् मैं श्रीबृन्दावन में श्रीबाबाजी महाराज के समीप गया। वहाँ उनके साथ कुछ दिन रहने के पश्चात् जिस दिन मैं कलकत्ता लौटने वाला था, उसदिन मेरे चलने के पहले श्रीबाबाजीमहाराज कई व्रजवासियों के साथ बैठकर गाँजा पी रहे थे। उस समय उन्होंने मुझे दूसरे कमरे से

बुलवाया और जिस चिलम में वे गाँजा पीते थे, उस चिलम को मेरे हाथ में देकर कहा—'तुम इस प्रसादी गाँजे की धूम को पी लो।' तब एक व्रजवासी ने उनसे पूछा—'क्या बाबू भी गाँजा पीता है ?' तब उन्होंने मुस्कुरा कर कहा—'नहीं, बाबू गाँजा नहीं पीता, किन्तु ज्वर होने से कभी-कभी बाबा को स्मरण कर गाँजे का भोग लगाता है और उस प्रसाद को लेता है।' उनकी इस बात को सुनकर मैं अतिशय पुलकित हुआ और समझ गया कि कलकत्ते में उनके उद्देश्य से मैंने जो गाँजे का भोग लगाया था, उसको उन्होंने यथार्थ ही ग्रहण किया था और बड़ी दूर श्रीवृन्दावन में विराजने पर भी मेरे प्रति उनकी दृष्टि अप्रतिहत रहती है।

एकबार मैं अपने वकालत-सम्बन्धी काम से कुछ दिनों के लिये कलकत्ता छोड़कर बाहर चला गया था। मेरे कलकत्ते से जाने के पश्चात् वहाँ चोरों का बड़ा उपद्रव हुआ था। अटारियों पर चढ़कर खिड़कियों से गृह के भीतर प्रवेश कर चोर बहुत गृहों से विविध-सामग्री चुरा ले जाते थे। इस संवाद से हमारे गृह के लोग अधिक डर गये थे। हमारे गृह के दो-मंज़िले पर मेरी स्त्री केवल अपने एक अल्पवयस्क कनिष्ठ भ्राता को ही लेकर उन दिनों रहती थी। मेरी स्त्री प्रायः शयनागार के किवाड़ और खिड़कियाँ खोलकर शयन करती थी। पर गृह में मेरे न होने से और चोरों का भय हो जाने से उन दिनों मेरी स्त्री किवाड़ और खिड़कियों को बन्द कर सोने लगी। चोरों के भय से वह इतनी डरी कि रात्रि के समय वह अकेली ऊपर ने नीचे भी नहीं जा सकती थी। एक

दिन रात्रि में उसको इतनी गर्मी मालूम हुई कि उसने कुछ समय के लिये खुली रखने के विचार से एक खिड़की खोली। खिड़की खोलने के साथ ही उसने देखा कि श्रीबाबाजी महाराज सामने खड़े हैं। वे मुस्कराकर उससे बोले—'माई! तुम्हें डर काहे का, मैं तो तुम्हारे संङ्ग में सदा ही रहता हूँ।' यह कह कर वे अदृश्य हो गये और साथ ही साथ मेरी स्त्री के मन का भय चला गया और भय के स्थान पर वे असाधारण साहस स्थापन कर गये। तब मेरी स्त्री पहले की भाँति सब किवाड़ों और खिड़कियों को खोलकर हर्ष-पूर्वक सोयी। मेरे बाहर से लौटने पर उसने मुझको यह वृत्तान्त आद्योपान्त सुनाया।

एकबार मेरी स्त्री को बुखार हुआ था। उन दिनों और कोई स्त्री मेरे मकान पर नहीं थी। मेरी स्त्री जिस कमरे में सोती थी उसके ठीक पश्चिम की ओर एक छोटा सा कमरा था, और उस से भी पश्चिम के कमरे में मैं सोता था। इन तीनों कमरों के बीच के किबाड़ खुले रहते थे, इसलिये पारस्परिक संवाद लेने में कोई असुविधा न होती थी। एकदिन अर्द्धरात्रि के समय मेरी स्त्री के ज्वर का वेग बहुत बढ़ गया और गात्रदाह आदि क्लेशों से वह छटपटाने लगी। पर मेरी निद्रा भङ्ग होने की आशङ्का से अपनी यातना मुख द्वारा किसी भाँति प्रकाश न कर निःशब्द वह उन क्लेशों को सहती रही। जब यातना अत्यन्त असह्य हो गयी, तब अचानक श्रीबाबाजी महाराज प्रकट हुए और उसको अपनी गोद में लेकर उसके मस्तक पर हाथ फेरने लगे। तब उसकी सब

यातनायें तिरोहित हो गयीं और वह शान्ति का अनुभव करने लगी। स्वस्थ होकर जब उसने श्रीबाबाजीमहाराज को प्रणाम करना चाहा, तब वे तत्काल ही अन्तर्हित हो गये। प्रणाम न कर सकने के कारण मेरी स्त्री अनुताप करने लगी।

एकबार मैं एक हाथी पर चढ़कर अपने श्वशुरालय जा रहा था। हाथी के ऊपर केवल महावत और मैं था। महावत हाथी के कन्धे पर और मैं उसकी पीठ पर था। मेरे श्वशुरालय के समीप पहुँचकर हाथी जब गली के तङ्ग मार्ग से जाने लगा, उस समय मैं अन्यमनस्क था। मैंने अचानक देखा कि मेरे ठीक सामने महावत और मेरे बीच में एक वृक्ष की एक बृहत् शाखा है। महावत ने अपने शिर और शरीर को नीचा कर हाथी के मस्तक पर लेटकर उस शाखा को अतिक्रम किया था। उस वृहत् शाखा के चारों ओर अनेक छोटी-छोटी शाखाएँ निकली हुई थीं। उनमें से दो-एक मेरे मुख पर लगीं; हाथी भी बड़े वेग से चल रहा था। इतना समय नहीं था कि मैं भी अपने शरीर और शिर को झुकाकर महावत की भाँति हाथी के ऊपर लेटकर उस बृहत् शाखा को अतिक्रम करूँ। ऐसी दशा में किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर मैंने केवल अपनी दोनों आँखें मूँद लीं और मेरे मन में यही धारणा हुई कि अब आत्मरक्षा का और कोई उपाय नहीं है, उस शाखा से आहत होकर तत्क्षण ही मुझे धरती पर गिरना पड़ेगा और बृहत् शाखा से सींकों की भाँति जो छोटी-छोटी शाखाएँ निकली हुई हैं उनकी रगड़ से मेरे मुख का मांस नाना-स्थान में छिन्न हो जायेगा।

किन्तु बड़े भारी आश्चर्य की बात यह हुई कि वह बृहत् शाखा क्या उसकी एक छोटी शाखा भी मेरे शरीर से नहीं छू गई। थोड़ी ही देर में आँखें खोलकर मैंने देखा कि वह बृहत् शाखा मेरे पीछे हो गयी थी, और हाथी उसको पार कर आ गया था। यह अद्भुत घटना कैसे सम्भव हुई, यह किसी प्रकार से मेरी समझ में नहीं आया। उस बृहत् शाखा से टकराये बिना उसको किसी प्रकार से अतिक्रम करने की सम्भावना न थी, फिर भी मेरे शरीर ने बिना किसी बाधा के उस को इस प्रकार से अतिक्रम किया जैसे कोई शून्य-स्थान से निकल आता है। यह असम्भव सम्भव कैसे हुआ इसको मैं अपनी बुद्धि के द्वारा किसी प्रकार से भी मीमांसा नहीं कर सका। किन्तु यह बात मैंने किसी से भी नहीं कही, क्योंकि यह दूसरे से कहना व्यर्थ था। इस घटना के कुछ दिन पश्चात् मैं श्रीवृन्दावन में श्रीबाबाजीमहाराज के समीप जब आया, तब उन्होंने अपने आप कहा—"बाबा! शाखा तुम्हारा क्या कर सकती है? भगवान् सदा छाया की भाँति तुम्हारे साथ रहते हैं और तुम्हारी रक्षा करते हैं।' उनकी यह बात सुनकर पूर्वोक्त विषय में मेरी जिज्ञासा शान्त हो गयी। श्रीगुरुदेव की दया और उनकी अपार शक्ति को विचारता हुआ उनके आश्रय-लाभ करने से मैं अपने भाग्य को धन्य समझने लगा।

श्रीगुरुदेव के सम्बन्ध में इसी प्रकार की और भी बहुत घटनायें मेरे जीवन में घटी हैं। इस स्थल में और अधिक घटनाओं का वर्णन करना निष्प्रयोजन है। मैं अपने बड़े गुरुभाई

श्रीअभयनारायणजी की कही हुई और कई एक घटनाओं का यहाँ उल्लेख करता हूँ :—

श्रीअभयनारायणजी ने एकबार एक रेलवे कर्मचारी के साथ कुछ दिन पश्चिमोत्तर देश में निवास किया था। उस रेलवे कर्मचारी के रहने का स्थान रेलवे लाइन के पास एकान्त में था। उसके दो तीन कोस इधर-उधर कोई ग्राम नहीं था और उसके चारों ओर केवल पहाड़ और जंगल थे। उस कर्मचारी का काम रेलवे का पर्यवेक्षण करना था। एकदिन वे अपने काम से बाहर चले गये और उस दिन अपराह्न में उनका नौकर भी अपने किसी कार्यवश वहाँ से चला गया। वह अत्यन्त ग्रीष्म का समय था। रात को घर के अन्दर सोया नहीं जाता था। इसलिये श्रीअभयनारायणजी घर के सामने एक वृक्ष के नीचे एक खटिया पर सोये; किन्तु विना मनुष्य के उस जङ्गली स्थान में अन्धकारमय रात्रि के समय अकेले रहते हुए वे डरने लगे और अतिशय ग्रीष्म के कारण उनको बहुत कष्ट होने लगा। उस समय अचानक उनको यह अनुभव होने लगा कि कोई उनके शिरोदेश के पास बैठकर पङ्खा से वीजन कर रहा है। उन्होंने मुँह फेरी कर देखा कि श्रीबाबाजीमहाराज ही वहाँ बैठकर पङ्खा से वीजन कर रहे हैं। इस पर आश्चर्यान्वित होकर वे शय्या से उठने का विचार कर ही रहे थे कि इतने में उन्होंने देखा कि श्रीबाबाजीमहाराज अन्तर्हित हो गये हैं। इस प्रकार से रात्रि में तीन बार उनको श्रीबाबाजीमहाराज ने पङ्खे से वीजन किया था, किन्तु वे उनके देखते ही अन्तर्हित हो गये थे। तत्पश्चात् उनको

दृढ़-विश्वास हो गया कि श्रीबाबाजी महाराज उनकी वहाँ रक्षा कर रहे हैं। फिर वे निडर होकर शान्तचित्त से सो गये, उनको और कोई उद्वेग न रहा।

कलकत्ते में "कम्पनी-कागज" के व्यापार में क्षतिग्रस्त होकर श्रीअभयनारायणजी पर बहुत ऋण हो गया था। इसी कारण से उनके महाजन उनके विरुद्ध में गिरफ्तारी का वारंट नि:ालेंगे यह जानकर कलकत्ते को छोड़कर विभिन्न तीर्थस्थानों में जाकर वे कुछ-कुछ दिन रहने लगे थे। इस स्थिति में एक समय श्रीअयोध्याजी में रहे। इसी अवस्था में इसके कुछ काल पूर्व श्रीबृन्दावन में रहते समय वे श्रीबाबाजीमहाराज से बिना प्रार्थना किये ही दीक्षाप्राप्त हो गये थे। इस बार श्रीअयोध्याजी में कुछ दिन रहने के पश्चात् उनके जी में बड़ा नैराश्य उपस्थित हुआ था। वे सोचने लगे—"इस प्रकार से मैं कब तक रहूँगा। भगवान् से कितनी प्रार्थना की, यदि भगवान् वास्तव में रहते तो मुझे उनके दर्शन अवश्य ही मिलते और वे दुंःख से बचाते। मुझको धर्म-कर्म सब निरर्थक और यह जीवन अन्धकारमय जान पड़ता है।" अतः उन्होंने निश्चय किया कि इस शरीर को त्याग करना ही श्रेयस्कर है; अतएव सरयू नदी पर जो पुल है, उस पर से अगले दिन नदी में कूदकर वे अपने समस्त क्लेशों का अन्त करेंगे।

यह संकल्प कर वे अपनी शय्या पर सोये। कुछ समय पश्चात् अचानक श्रीबाबाजीमहाराज उनके उस कमरे में आविर्भूत हुए और

धमकाकर बोले—'इस प्रकार सोकर तुम काल गँवाते हो और भगवान् तुमको दर्शन देंगे ? मैंने तुमको जो भगवान् का नाम दिया है तुम उस नाम को जपते क्यों नहीं हो ? क्या यों ही भगवान् मिल जाते हैं ?' इस प्रकार से डाँटकर वे अन्तर्हित हो गये। श्रीअभयनारायणजी भयभीत होकर उठ बैठे और नाम जपने लगे। इसके कुछ समय पश्चात् ही विश्वव्यापी अमृतमय ब्रह्मज्योतिः उनके सम्मुख प्रकाशित हुई, उससे वे आनन्द में निमग्न हो गये। उनका इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्मज्योतिः के दर्शन करते-करते कुछ काल बीता। तत्पश्चात् एक दिन अचानक वह ब्रह्मज्योतिः अन्तर्हित हो गई और वे पूर्व-दशा को प्राप्त हुए। इसके कुछ दिन पश्चात् वे श्रीबृन्दावन जाकर श्रीबावाजी महाराज के समीप उपस्थित हुए। उनको देखते ही वे बोले—'क्यों, अब तुम जान गये न, कि भगवान् हैं ? तुम कोई चिन्ता मत करो, तुम चाहे घर में रहो या जहाँ कहीं रहो तुमको ऋण के लिये कोई उत्यक्त न करेगा, तुम निर्भयचित्त से घर में जाकर निवास कर सकते हो। इसके पश्चात् श्री अभयनारायणजी कलकत्ता लौटे और उन्होंने देखा कि उनके महाजन उनके साथ बड़ा ही अच्छा बर्ताव करने लगे।

एकबार गया जी में रहते समय श्रीअभयनारायण जी को स्वप्न में श्रीबाबाजीमहाराज ने दर्शन दिया और एक साधु को दिखलाकर कहा—'ये महात्मा हैं, तुम इनके सङ्ग रह सकते हो। इनका सङ्ग करने से तुम्हारा कल्याण होगा।' इसके पश्चात् श्रीअभयनारायणजी श्रीवृन्दावन गये और संयोगवश जब श्रीविजय-

कृष्ण गोस्वामीप्रभु से मिले, तब उनको ज्ञात हुआ कि श्रीबाबाजी महाराज ने स्वप्न में जिन महात्मा को दिखलाया था, ये ही वे महात्मा हैं। यह जानकर वे इनके सङ्ग एक ही मकान में निवास करने लगे। तत्पश्चात् एक दिन यमुनाजी के तट पर विचरते-विचरते श्रीबाबाजी महाराज के दर्शन मिले तो वे उनसे बोले—'गयाजी में स्वप्न में आपके दर्शन हुए।' तब उन्होंने कहा—'हाँ, स्वप्न में मैंने तुमको दर्शन दिया था, अब तुम जान गये हो न, कि वह स्वप्न सत्य था ? उन महात्मा से अब तुम्हारी भेंट हुई है न ? वे सच्चे साधु हैं, साधु ऐसे ही होते हैं; इनके साथ रहने से तुम्हारा कल्याण होगा। चलो, मैं भी तुम्हारे सङ्ग उनके यहाँ चलूँगा।' यह कहकर श्रीबाबाजीमहाराज श्रीअभयनारायणजी के साथ श्रीगोस्वामी-प्रभु के यहाँ गये। श्रीगोस्वामीप्रभु ने उनको अभिवादन करके बैठाया। श्रीबाबाजीमहाराज निपट अपरिचित की भाँति उनसे वार्तालाप करने लगे। उन्होंने उनसें पूछा—'आपका देश कहाँ है ? कितने दिन हुए यहाँ आये हैं, किस प्रकार से आपकी जीविका का निर्वाह होता है ?' श्रीअभयनारायणजी उनके तत्कालीन व्यवहार को देखकर आश्चर्यान्वित हो गये। श्रीबाबाजीमहाराज के चले जाने के पश्चात् श्रीगोस्वामीप्रभु ने श्रीअभयनारायणजी से कहा कि ये महापुरुष गर्गनारद श्रेणी के हैं। श्रीबाबाजीमहा-राज इसी भाँति अपने दूसरे शिष्यों को भी कभी-कभी दर्शन देकर उन्हें भगवद्विषय में सचेत किया करते थे। मानव-लीला संव-रण करने के पश्चात् भी श्रीबाबाजीमहाराज समय-समय पर हम

लोगों को पूर्वोक्त प्रकार से दर्शन देकर उत्साहित करने और अपनी स्मृति सदैव जाग्रत रखने में त्रुटि नहीं कर रहे हैं।

ऐसा नहीं कि वे केवल हम शिष्यों को ही इस प्रकार दर्शन देते थे, हमारे बन्धुवर्ग में से भी किसी-किसी ने उनका इस प्रकार दर्शन पाया है। इस विषय में भी एक घटना का उल्लेख यहाँ कर रहा हूँ।

कलकत्ते के कम्बलिया टोले में रहते समय मैंने अपनी बैठक में, जहाँ मैं सदैव बैठता था, उसके सामने की दीवाल पर श्रीबाबाजी महाराज का एक चित्र लगाकर रक्खा था। श्रीबिहारी लालजी चट्टोपाध्याय नामक मेरे एक धर्मबन्धु थे। वे धर्मनिष्ठ, सात्त्विक-प्रकृति के तथा भक्तिमान पुरुष थे। स्वास्थ्य बिगड़ने से उन्होंने जलवायु बदलने के लिये सन्थाल परगने के एक स्थान में जाकर कुछ दिन निवास किया। कलकत्ते में लौटकर मुझसे भेंट करने के लिये वे मेरे कम्बलिया टोले के मकान में आये। बैठक में प्रवेश कर उन्होंने श्रीबाबाजी महाराज के चित्र को देख चकित होकर मुझसे पूछा—'आप को इन महापुरुष का दर्शन कहाँ मिला ? मैंने कहा—'यह मेरे गुरुमहाराज का चित्र है।' वे बोले—'मैं सन्थाल परगने में जहाँ था, वहाँ इनके दर्शन कर आया हूँ। मैं जिस मकान में रहता था, उसके पास एक पीपल के वृक्ष के नीचे इन्होंने तीन दिन तक अपना आसन स्थापित किया था। मैं नित्य इनके पास जाकर बैठता था। वे मुझे बड़ा स्नेह और आदर करते थे।'

किन्तु वास्तव में उस समय श्रीबाबाजी महाराज श्रीवृन्दावन में थे। इसलिये मैंने कहा—'मेरे गुरु महाराज तो इन दिनों श्री-वृन्दावन में हैं, सन्थाल परगने में उनके इस समय जाने की तो कोई सम्भावना नहीं है! आपने किस प्रकार से वहाँ उनका दर्शन किया यह मेरी समझ में नहीं आ रहा है।' वे बोले—'मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि मैंने सन्थाल परगने में तीन दिन इनके ही दर्शन किये हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।' उनकी ये बातें सुनकर मैं बहुत ही विस्मित हुआ। तत्पश्चात् श्रीबृन्दावन में जाकर मैंने श्रीबाबाजी महाराज से इस विषय में पूछा तो वे मुस्कराकर बोले—'बाबा! कभी-कभी अन्य स्थानों में अन्य लोग भी मेरे दर्शन पाते हैं। इस रहस्य को इस समय तुम नहीं समझ सकोगे, पर पीछे समझोगे।'

—o—

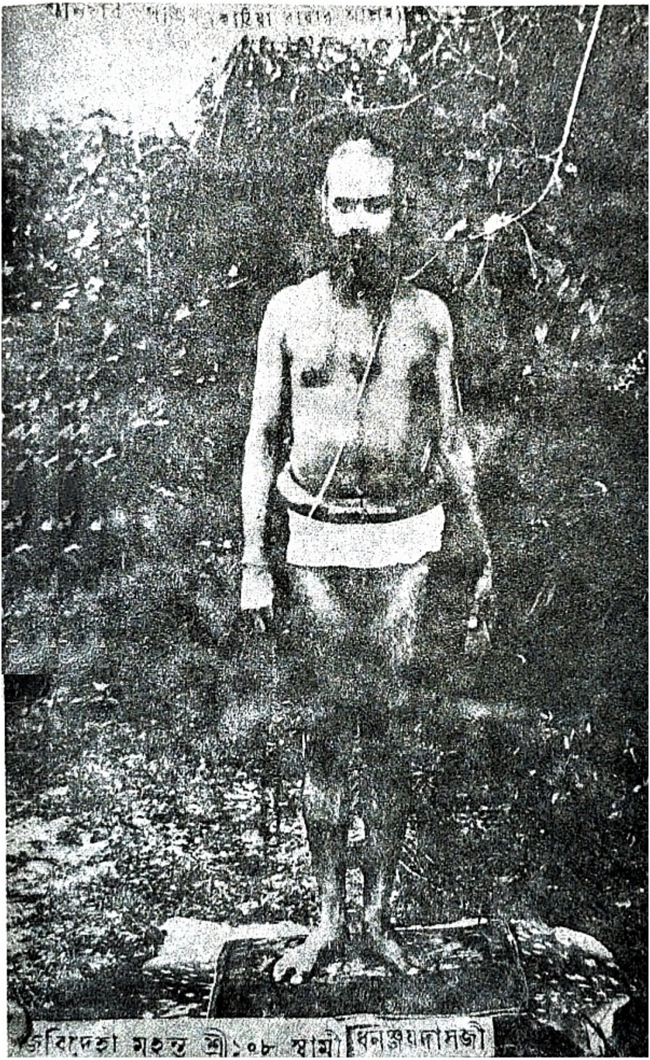
মহন্ত শ্রী১০৮ স্বামী ধনঞ্জয়দাসজী

श्रीरामदासजी का बाहरी व्यवहार

किसी-किसी समय बाहरी लोगों के साथ श्रीरामदासजी जैसा बर्ताव करते थे, वह पहले-पहल कुछ कठोर जान पड़ता था। परन्तु बिशेष कारण से ही वे ऐसा बर्ताव करते थे; कारण ये हैं—वे आचार्य महन्त थे, इसलिये दूसरे साधुओं को शासन में रखने और उनकी परीक्षा करने के योग्य थे, जिससे उन लोगों के साथ उनका बर्ताव बहुधा आत्मगोपन के निमित्त और कभी-कभी दूसरों के शासन और परीक्षा के लिये होता था। समय-समय पर तो उस बाह्य कठोरता के भीतर वास्तविक दया ही अव्यक्त रूप में रहती थी। जो लोग कुछ उच्च-साधनसम्पन्न होते हुए भी पूरे साधनयोग की कोटि तक नहीं पहुँचे हैं, उनके साथ उनका बर्ताव प्रायः कठोर ही होता था। यह इस बात की परीक्षा के लिये होता था कि वे अभिमान-शून्य हैं या नहीं। दूसरों के साथ उनके जो बाह्य व्यवहार होते थे उनके कई दृष्टान्त, जिस प्रकार श्रीताराकिशोरजी ने श्री रामदासजी की जीवनी में लिखे हैं, नीचे दिये जाते हैं।

एक दिन एक नामी साधु आश्रम में आये। उनको देखते ही श्रीरामदासजी कुछ रूखेपन से बोले—"तुम यहाँ क्यों आया ? यहाँ तुम नहीं रह सकोगे।" उन्होंने हाथ जोड़कर नम्रता से कहा—'महाराज! मैं यहाँ नहीं रहूँगा, कुछ भजन लेकर आया हूँ, उसको

आपके यहाँ सिललोढ़े से पीसकर ले जाऊँगा।" श्रीरामदासजी बोले—"भङ्ग पीसनी हो तो कहीं और जाओ। यहाँ तुम्हारे आने का कोई प्रयोजन नहीं है। जाओ, तुम अभी आश्रम से बाहर निकल जाओ।" उस साधु से यह कहकर उन्होंने श्रीअभयनारायणजी को आज्ञा दी—"तुम बाहर के किवाड़ बन्द कर दो।" अभयनारायणजी जानते थे कि वे अच्छे साधु हैं। उनके साथ श्रीरामदासजी का ऐसा बर्ताव देखकर श्रीअभयनारायणजी अपने जी में दुखी हुए और कुछ खिन्न होकर केवल गुरुमहाराज की आज्ञा को पालन करने के लिये ही उन्होंने किवाड़ बन्द कर दिये। उस समय दूसरी ओर से श्रीरामदासजी शौच को चले गये। जब किवाड़ बन्द कर दिये गये, तब साधु ने वहीं बैठकर गीता पढ़ना आरम्भ कर दिया। श्रीअभयनारायणजी ने समझा कि साधुजी चले गये होंगे। कुछ देर में श्रीरामदासजी शौच से आकर अपने आसन पर बैठे और श्रीअभय-नारायणजी से बातें करने लगे। कुछ देर के पश्चात् वे मुस्कराते हुए श्रीअभयनारायणजी से बोले—"अभयराम! वह वृद्ध साधु जिसको मैंने आश्रम से बाहर कर दिया था, चला नहीं गया है, द्वार पर बैठा हुआ है। तुम किवाड़ खोलकर उसको भीतर ले आओ।" अभय-नारायणजी ने किवाड़ खोलकर देखा कि वास्तव में वे साधु वहाँ बैठकर गीता पाठ कर रहे हैं। श्रीअभयनारायणजी उन से बोले—"महाराज आपको भीतर बुलाते हैं।" यह सुनते ही उन वृद्ध साधुजी ने भीतर आकर श्रीरामदासजी को दण्डवत् प्रणाम किया और भङ्ग पीस लेने के पश्चात् अनेकानेक बातें कर वे चले गये।

एकदिन एक और ख्यातनामा साधु आश्रम में आकर श्रीराम-दासजी से बोले—"महाराज ! मेरे पास एक सच्चरित्र बालक है, वह आप का चेला होने के योग्य है। मैंने उस से कहा है कि तुम को चार सौ वर्ष का साधु दिखलाऊँगा। आपकी आज्ञा हो तो उसे लाकर मैं आपको दिखलाऊँ।" इन बातों को सुनते ही श्रीराम-दासजी तमककर बोले—"यदि तुम बिना झूठ कहे माँगकर नहीं खा सकते हो, तो अपने लिये झूठ कहकर माँग खाया करो। मेरे लिये मिथ्या वाक्य क्यों प्रयोग करते हो ? तुम से किसने कहा है कि मैं चार सौ वर्ष का हूँ ? मेरे लिये तुम क्यों मिथ्या वचन बोलते हो ? तुम वृद्ध हुए, तथापि मिथ्या-भाषण करना नहीं छोड़ते हो ?" वे इन बातों को इतना कड़ककर बोले कि वह साधु चुप हो गये और म्लानमुख होकर धीरे-धीरे चले गये तथा जाने के समय और लोगों से बोले—"साधुओं के स्वभाव के कितने ही भेद हैं; मैं तो बाबाजी की बड़ाई करने लगा था, पर उन्होंने प्रसन्न न होकर एकदम नरसिंह का रूप धर लिया।" यह कहते कहते वे आश्रम से चले गये।

एक दिन श्रीवृन्दावन में कुम्भमेले के समय एक धनी के कर्मचारी ने बहुत से निमन्त्रण-पत्र श्रीरामदासजी के हाथ में दिये। निमन्त्रण में जाने के लिये अनेक साधु आकर उनसे माँगकर एक एक चिट्ठी ले जाने लगे। कुछ देर में एक परमहंस ने भी आकर उनसे एक चिट्ठी माँगी तो श्रीरामदासजी गरज कर बोले—"क्या मैं चिट्ठी बेचने लगा हूँ ? तुम जाओ, यहाँ चिट्ठी नहीं मिलेगी। मेरे पास चिट्ठी नहीं है, केवल रोजगार के लिये तुम

चिट्ठी माँगते फिरते हो।" इन बातों को सुनकर परमहंसजी कुछ नहीं बोले, चुपचाप बैठे रहे। कुछ देर पश्चात् श्रीरामदासजी ने उनको प्रसन्नता से एक चिट्ठी दे दी। अभयनारायणजी और ताराकिशोरजी उस समय वहाँ उपस्थित थे। परमहंसजी के चिट्ठी लेकर चले जाने के पश्चात् उन्होंने पूछा—"महाराज! आपके पास तो बहुत चिट्ठियाँ थीं, जिस किसी ने आप से माँगा, उसको ही आपने चिट्ठी दे दी, पर इस परमहंस से ऐसा बर्ताव क्यों किया?" उन्होंने मुस्कराकर कहा—"बाबा! यह परमहंस सज्जन है, इसने अवज्ञा और तिरस्कार को शान्तभाव से सहन करने का कितना अभ्यास किया है, यही परीक्षा करने के लिये मैंने उससे ऐसा बर्ताव किया। तुम बालक हो, अभी यह नहीं समझ सकोगे।"

श्रीरामदासजी के आश्रम में श्रीराधाविहारीजी के विग्रह जब प्रथम प्रतिष्ठित हुए, तब निमन्त्रित तथा अनिमन्त्रित बहुत लोगों ने प्रसाद पाया था और दो-तीन दिन तक प्रसाद बाँटा भी गया था, तो भी बहुत सा प्रसाद बच गया था। इन दिनों में एक दिन क्रमशः जब बहुत साधु भोजन के लिये आने लगे तो श्रीरामदासजी उग्ररूप धरकर उनमें से बहुतों को एक-एक करके खदेड़ने लगे। भण्डार में से बहुत लड्डू, कचौड़ी आदि प्रसाद रहने पर भी उनको इस प्रकार से साधुओं को भगाते देखकर श्रीअभयनारायणजी मन ही मन कुछ खिन्न होने लगे, किन्तु उन्होंने बाहर कुछ प्रकाश नहीं किया। कुछ देर पश्चात् अभयनारायणजी जब धूनी के घर में बैठे थे और श्रीरामदासजी भी वहाँ तम्बाकू पी रहे थे, उस

समय श्रीरामदासजी अचानक बोले—"अभयराम! तुम कहते हो कि मैं इन सब साधुओं को भोजन विमुख कर क्यों खदेड़ रहा हूँ; बाबा! तुम बालक हो कुछ नहीं समझते हो; इनमें से कोई भी सच्चा साधु नहीं है, इन में से कोई क्षुधार्त्त भी नहीं है, ये सभी घर में खा आये हैं, केवल रोजगार के लिये अब भीख माँगते फिर रहे हैं। मैंने क्षुधार्त्त साधुओं को नहीं लौटाया। अभी तुम देखोगे, एक सच्चा क्षुधार्त्त साधु आवेगा, उसको भली-भाँति भोजन कराना।" इस वार्त्तालाप के दो-तीन मिनट पश्चात् आश्रम के एक साधु ने आकर कहा कि और एक साधु भोजन के लिये आया है और उसने श्रीरामदासजी का अभिप्राय जानना चाहा कि उस साधु को भोजन कराया जायेगा कि नहीं। यह सुनकर श्रीरामदासजी ने कहा—"अभयराम! यह सच्चा साधु है, तुम इसको बुलाकर पूछोगे तो जान जाओगे।" तब उस साधु ने स्वयं श्रीरामदासजी के समीप आकर दण्डवत् प्रणाम किया। उन्होंने उससे पूछा—"तुम्हारा गुरुद्वारा कहाँ है?" साधुजी बोले—"मेरा गुरुद्वारा डाकोरजी है।" तब श्रीरामदासजी ने कहा—"अभयराम! देखो यह अच्छे स्थान का चेला है, इससे और-और बातें पूछोगे तो जान जाओगे कि यह भण्ड और केवल साधुवेशधारी ही नहीं है सच्चा साधु है। जाओ, इसको भली भाँति भोजन कराओ।"

एकबार व्रजपरिक्रमा में गिरिराजवासी एक अति दरिद्र असहाय ब्राह्मण श्रीरामदासजी के सङ्ग गया था। वह बड़े परिश्रम और

निष्ठा के साथ परिक्रमा में उनकी सेवा करता था। परिक्रमा समाप्त होने में प्रायः डेढ़ मास लगते हैं। उस ब्राह्मण को कफ़श्वास का रोग था। उस पर भी वह औरों की अपेक्षा अधिक शारीरिक परिश्रम करता था। परिक्रमा की यात्रा के पहले भी उसने कुछ दिन आश्रम में रहकर आश्रम का काम-काज किया था; परिक्रमा से लौटकर भी वह आश्रम में रहने लगा। पर परिक्रमा से लौटने के पश्चात् इसके कफ़ श्वास का रोग बहुत बढ़ने लगा, इसलिये वह काम काज करने में एकदम असमर्थ हो गया। एक दिन वह धूनी के पास बैठा हुआ था कि इतने में श्रीरामदासजी उसके पास आकर उसको बहुत धमकाने लगे औरबोले—"तू यहाँ क्यों पड़ा है? कुछ भी काम नहीं करता है, केवल बैठा-बैठा साधु का अन्न खा रहा है। जा, अभी आश्रम से निकल जा।" वह ब्राह्मण तब निरुपाय होकर आश्रम से निकल गया। उस समय श्रीअभयनारायणजी और श्रीताराकिशोरजी वहीं थे। इस घटना से श्रीअभयनारायणजी के मन में बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने विचारा कि इस ब्राह्मण पर उनका व्यवहार बड़ा ही कठोर हुआ है। उसके पास एक पैसा भी नहीं है। जब तक बन पड़ा है, कठिन श्रम से उसने उनकी सेवा की है। अब कफ़-श्वास के कारण वह एकदम असमर्थ हो गया है, ऐसी दशा में उसको आश्रम से वहिष्कृत करना बड़ी ही निष्ठरता का काम है। ऐसा विचारते हुए श्रीअभयनारायणजी धूनी के घर से उठकर आश्रम के और एक स्थान में गये कि तत्काल श्रीरामदासजी अचानक उनके पास

जाकर बोले— 'अभयराम ! तुम कुछ नहीं समझ सकते, बालक हो, यह गिरिराज का ब्राह्मण सज्जन है। यह बड़े ही सङ्कट में पड़ गया था, इसके भोजन तक का ठिकाना नहीं था, किन्तु सदा भगवान् का नाम लेता था, जिससे मैंने उसको आश्रम में आश्रय दिया था। किन्तु यहाँ अतिरिक्त भोजन पाकर अब वह भजन करना एकदम भूल गया है। आश्रम में रहने से उसका भजन होना असम्भव है। अब यहाँ से खदेड़ा जाकर वह अपने को आश्रयहीन समझ फिर भजन में मन लगायेगा। उसके भोजन का अभाव नहीं होगा। भोजन उसको भगवत्कृपा से मिल ही जाया करेगा। तथापि वह अपने को निराश्रय समझकर फिर प्राणपण से भजन करेगा। इसलिये मैंने उसको यहाँ से निकल जाने को कहा है। लोगों का यथार्थ कल्याण किस प्रकार से होता है यह तुम नहीं जानते हो।" इन बातों को सुनकर श्रीअभयनारायणजी को शङ्का और दुःख दूर हो गये।

एक दिन बात ही बात में श्रीरामदासजी ने कहा—"परोपकार के वास्ते सन्तन धरे शरीर (औरों के हित करने के लिये ही सन्त लोग शरीर धारण करते हैं)।" श्रीवृन्दावन में दावानल कुण्ड के पास एक साधुओं का आश्रम है उसके प्राचीन महन्त श्रीकल्याणदासजी अनेक साधु-अतिथियों का सत्कार करते थे। श्रीरामदासजी के उस वचन को सुनकर एक व्यक्ति ने इन श्रीकल्याणदासजी का नाम लेकर कहा कि वे बड़े परोपकारी साधु हैं। अनेक अभ्यागत साधु श्रीवृन्दावन में आकर उनके यहाँ आश्रय पाते हैं। यह सुनकर

श्रीरामदासजी बोले—"मैं ऐसे उपकार की बात नहीं कहता हूँ, यह अत्यन्त सामान्य उपकार है। उपकृत पुरुष के लिये इसका फल अति सामान्य है। उसका बहुत थोड़ा ही दुःख इससे मिटता है। किन्तु कर्म कर्त्ता को पुनर्जन्म-ग्रहण करना पड़ता है। वह दूसरे जन्म में राजा हो सकता है, उसके पीछे सिपाहियों का पहरा आदि चल सकता है। उसके अनेक रथ, हस्ती, अश्वादि ऐश्वर्य होते हैं, परन्तु सच्चे साधु लोग कर्म में लिप्त नहीं होते हैं। उनके उपकार इस प्रकार के नहीं होते हैं। वे जीवों के दुःख-ताप के मूल का नाश कर उपकार साधन करते हैं। इसलिये उनकी कर्मपद्धति का यथार्थ तत्व साधारण लोगों की समझ में नहीं आता है।"

श्रीरामदासजी अपने को दूसरों से बाह्य-व्यवहार में किस प्रकार छिपाते थे, उसका एक दृष्टान्त यहाँ दिया जाता है :-

एकबार श्रीताराकिशोरजी के श्रीवृन्दावन में रहते समय श्रीहट जिले के करीमगञ्ज मुहकमे का मुख्त्यारी व्यवसायी एक व्यक्ति श्रीरामदासजी के दर्शन के लिये आश्रम में आया। उसने आश्रम में पहुँचते ही पहले श्रीताराकिशोरजी को प्रणाम किया, वे उस समय बाहर बैठे हुए थे। श्रीरामदासजी तत्काल ही "ऊँ, आँ" आदि शब्दों से शारीरिक क्लेश प्रकट करते हुए घर के भीतर से बाहर चले आये और इसप्रकार आर्त्तनाद करने लगे, मानो वे कठिन शारीरिक क्लेश का अनुभव कर रहे हैं। इससे वह मनुष्य उनको प्रणाम तक करना भूल गया और उनके शारीरिक क्लेश की शान्ति

के निमित्त एक दो औषधि का नाम बताकर पाँच-सात मिनट के पश्चात् आश्रम से चला गया। उसके चले जाते ही वे हँस-हँसकर श्रीताराकिशोरजी आदि के साथ वार्त्तालाप करने लगे, उस समय उनमें किसी प्रकार के क्लेश के रहने का कुछ भी पता न लगा। यह देखकर श्रीताराकिशोरजी विचारने लगे कि वह मनुष्य ऐसा मन्दभाग्य है कि श्रीबाबाजी महाराज को प्रणाम कर उनके पदरज शिरोधार्य करने का भी सुअवसर प्राप्त न कर सका।

वास्तव में इस प्रकार के व्यवहारों को नित्य करने में वे अभ्यस्त थे—यह कहने से कोई अत्युक्ति नहीं होगी। अन्य कितने ही साधक हैं, जो किसी आगन्तुक को देखने से अपने चेहरे को पूर्व की अपेक्षा गम्भीर बना लेते हैं। पर श्रीरामदासजी का बर्ताव उससे सदैव विपरीत होता था। चाहे उनका अपना चेला हो अथवा कोई और ही हो, प्रत्येक के सामने वे सम्पूर्णरूप से आत्म-गोपन कर साधारण अज्ञ सांसारिक मनुष्य का सा व्यवहार करते थे। इस प्रकार का व्यवहार मानो उनका स्वाभाविक था। उनके शिष्य और दूसरे लोग भी उनको नाना प्रकार के वस्त्रों की भेंट समय-समय पर देते थे, उन सबको वे बाँधकर रख देते थे। आश्रम के साधुओं को नहीं देते थे; यहाँ तक कि वस्त्राभाव होने पर भी प्रायः कभी उनको नहीं देतेथे। वरन् गृहस्थ-शिष्यों को कभी-कभी उनमें से एक दो बढ़िया कपड़े निकालकर देते थे। ये सब वस्त्र आलमारी में पड़े-पड़े प्रायः नष्ट हो जाते थे। श्रीरामदासजी का आभ्यन्तरिक अभिप्रायः यह था कि जो साधु उनके सङ्ग आश्रम

में रहते हैं वे उपहारस्वरूप-प्राप्त वस्त्रादि तथा भोग्य-वस्तु पर लोभ-प्राप्त न हों और साधारण सांसारिक मनुष्यों की भाँति सेवा तथा भजन से वहिर्मुख न हो जायें जिससे आश्रम क्रमशः भोग-विलास का स्थान बन जाये। वास्तव में आज-कल अधिकांश देवालय तथा साधुओं के वासस्थल सांसारिक लोगों की वासभूमि से भी अधिक भोगविलास के स्थान हो गये हैं। उनमें बहुत थोड़े स्थान ऐसे मिलते हैं जहाँ साधन-भजन की ओर ध्यान दिया जाता है। उनमें से कहीं-कहीं कुछ शास्त्र-चर्चा भी देखने में आती है, पर आभ्यन्तरिक शुद्धि और भगवन्निष्ठा प्रायः नहीं पायी जाती है। उन स्थानों के रहने वाले तो बहुधा भोगविलास में कालक्षेप करते हैं और साथ ही ऐसा विचार भी रखते हैं कि सर्वसाधारण गृहस्थों का धर्म यह है कि उनके लिये भोगविलास के उपयोगी सामग्री और धन का प्रबन्ध करें। श्रीरामदासजी स्वभावतः यत्नशील थे कि उनका आश्रम ऐसी दशा को प्राप्त न हो। आश्रमस्थ साधुओं के प्रति उनका व्यवहार भी इसी नियम के अधीन था।

आश्रमवासी साधुओं को श्रीरामदासजी अधिक सोने नहीं देते थे, साधक के लिये वे दिन-रात्रि में दो या तीन घण्टे की निद्रा को प्रचुर कहते थे और यह बताते थे कि दिनरात्रि में अन्न का आहार एक बार होना अच्छा है। उनका अभिमत यह था कि निद्रा और आहार के इन्हीं नियमों का अभ्यास क्रमशः करने से शरीर हलका, आलस्यरहित और भजन के योग्य होता है।

किन्तु अधिक शारीरिक कष्ट करके धर्म-कर्म करना भी वे पसन्द नहीं करते थे। उन्होंने एक बार एक घटना को उपलक्ष करके स्पष्ट-रूप से कहा था कि शरीर को कष्ट देकर जो धर्म होता है, वह तामस-धर्म है, उससे भगवान् प्रसन्न नहीं होते हैं। जिस घटना को उपलक्ष करके उन्होंने यह बात कही थी, उसे नीचे उल्लेख करता हूँ—

एकबार व्रज-परिक्रमा के समय लगभग पाँच कोस चलकर "कोशी" नामक स्थान में श्रीरामदासजी के साथ साधु लोग और श्रीताराकिशोरजी आदि उनके गृहस्थ-शिष्य मध्याह्न के समय आकर पहुँचे। उसीदिन अपराह्न को किसी-किसी साधु ने यह प्रस्ताव किया कि कोशी से दो-ढाई कोस दूरवर्ती 'शेषशायी' नामक स्थान में श्रीताराकिशोरजी को ले जाकर शेषशायी भगवान् की मूर्ति का दर्शन करा ले आवेंगे। उनके कहने से श्रीतारा-किशोरजी जाने के लिए प्रस्तुत हुए, किन्तु श्रीरामदासजी निषेध कर श्रीताराकिशोरजी से बोले—"यह परिक्रमा करते हो यह ही बहुत है, इसके अतिरिक्त और भी दो-ढाई कोस पैदल जाने आने में शरीर को क्लेश होगा, यह तामस-धर्म है और उससे भगवान् प्रसन्न नहीं होते हैं।" उनके निषेध करने से श्रीताराकिशोरजी का जाना नहीं हुआ और जिन साधुओं ने उनको ले जाने का आग्रह किया था, वे भी निवृत्त हुए।

श्रीरामदासजी साधु, असाधु, धनी, दरिद्र सबके साथ व्यवहार

के समय समभाव अवलम्बन करते थे। इसके कुछ दृष्टान्त दिये जाते हैं :—

एकदिन श्रीबृन्दावन में श्रीगोपीनाथजी के मन्दिर से थोड़ी दूरी पर एक मकान में एक राजा आकर कई दिन ठहरे थे। वे श्रीरामदासजी पर विशेष भक्तियुक्त होकर उनके दर्शनाभिलाषी हुए, तो उनको दर्शन देने के लिये वे स्वयं उस मकान पर जा उपस्थित हुए। उनके वहाँ पहुँचते ही राजा ने बड़े हो सम्मान से उनको अति मूल्यवान् आसन पर बैठाया। जब तक वे वहाँ विराजमान थे, तबतक राजा स्वयं किसी आसन पर न बैठ भूमि पर ही बैठे रहे तथा उनके प्रति नाना प्रकार के मर्यादासूचक व्यवहार उन्होंने किये। जब वे वहाँ से लौटने लगे, तब उन्होंने मकान के निम्नतल में आकर देखा कि राजा का द्वारपाल द्वार के पार्श्व में बैठा है। द्वारपाल ने उठकर उनको दण्डवत् प्रणाम किया तो वे मुस्कराकर उसके पास भूमि पर बैठ गये और अपने झोले से गाँजा निकाला और एक चिलम चढ़ा दोनों मिलकर पीने तथा समभाव से वार्त्तालाप करने लगे। तत्पश्चात् वे कुछ देर में आश्रम को लौटे। राजा से उतना सम्मान और मर्यादा प्राप्त कर तत्काल ही राजा के यहाँ उनके द्वारपाल के साथ समभाव से बैठकर वे जैसा व्यवहार कर आये उससे राजा के जी में जो कुछ भी धारणा हुई होगी वह वे ही जानते हैं, पर साधारण मनुष्यों में इस प्रकार के मान-अपमान का समान व्यवहार प्रायः देखने में नहीं आता है।

केमारबन के दावानलकुण्ड के पास जो आश्रम है, वहाँ का

एक बालक-साधु एक दिन श्रीरामदासजी के आश्रम से औषधि के लिये कुछ दाड़िम पत्र लेने आया। उसको पत्ते लेने को निषेध कर श्रीरामदासजी बोले— 'मेरा दाड़िम-वृक्ष छोटा है, तुमको पत्ते न लेने दूँगा। तुम और कहीं से पत्ते ले सकते हो।" और उसके साथ इस प्रकार समभाव से वे व्यवहार करने लग गये कि वह भी उनकी अवस्था की मर्यादा को भूलकर उनसे ठीक समवयस्क की भाँति पत्तों के लिये झगड़ने लगा। अन्त में वह उनको नाना-प्रकार की गालियाँ तक देने लगा, जिससे वे भी उसको ठीक वैसी ही गालियाँ देने लगे। उसके गाली देने पर वे और अधिक अश्लील वाक्यों का प्रयोग कर उसको गाली देते थे। दोनों में इसी प्रकार गाली-गलौज होने के पश्चात् वह बालक-साधु चला गया। उस समय श्री तारा-किशोरजी ने अत्यन्त सावधानी के साथ हास्य संवरण किया था। जब वह साधु चला गया, तब ठीक बालकवत् श्रीरामदासजी ने कहा—"मेरे वृक्ष के पत्ते लेने आया था, मैंने उसको कैसी गाली देकर भगा दिया ?"

वास्तव में श्रीरामदासजी के इस प्रकार के बालकवत् व्यवहार को प्रायः देखा जाता था। एकदिन स्नानान्तर तिलक-स्वरूप कर उन्होंने एक साधारण वस्त्रधारण कर लिया तो श्रीअभयनारायणजी उनको देखकर बोले—"महाराज ! इस धोती को धारण करने से आप बड़े सुन्दर दिखाई देते हैं।" यह सुनकर वे अत्यन्त आह्लादित होकर बोले—"मेरी एक बनात की 'आल्फी' है, उसको जब मैं पहनता हूँ, तब कैसा दीखता हूँ, वह तुमने नहीं देखा है। मैं उस

आल्फी को पहनकर तुमको दिखलाऊँगा, तब तुम जानोगे कि मैं कैसा अच्छा दीखता हूँ।" उनके बालकवत् वाक्य को सुनकर श्रीअभयनारायणजी और श्रीताराकिशोरजी आदि सब लोग हँस पड़े।

एक दिन त्रिपुरा के महाराज का एक निकट-आत्मीय जो श्रीरामदासजी का शिष्य था, तौलिया-सदृश एक उत्तम मणिपुरी वस्त्र की भेंट उनको देकर बोला—"महाराज! मेरे कुटुम्ब की स्त्रियों ने यह वस्त्र आपके लिये अपने हाथों से बुना है। इसको आप स्वयं व्यवहार में लावें तो हमलोग अत्यन्त सन्तुष्ट होंगे।" उन्होंने तुरन्त उस वस्त्र को उठा लिया और ओढ़कर कहा—"यह बड़ा ही उत्तम वस्त्र है, इसको मैं ओढ़ूँगा और सबको दिखलाऊँगा कि यह कैसा सुन्दर है।" यह कहते हुए वे आश्रम से कोई एक मील दूर लोई बाजार में चले गये और वहाँ जिस किसी को बुला-बुलाकर अपने उस ओढ़े हुए कपड़े को दिखलाकर कहने लगे, "देखो यह कैसा सुन्दर वस्त्र है, इसको त्रिपुरा के राजपरिवार की स्त्रियों ने बुनकर मुझे दिया है।" ऐसे सरल और मिष्ट भाव से वे कपड़े को दिखलाने लगे कि सब लोग मुग्ध होकर वात्सल्यभाव से कहने लगे—"हाँ महाराज! तुम्हारा यह वस्त्र बहुत सुन्दर है।"

विषयी लोगों के संसर्ग होने से श्रीरामदासजी धनादि के सम्बन्ध में समानभाव से उनसे वार्त्तालाप करते थे, यहाँ तक कि चोर, लम्पट आदि भी उनसे कभी-कभी जी खोलकर अपना दुःख कहते तो

उनके साथ उन विषयों में समान भाव से वे वार्त्तालाप करते थे और ठीक उस श्रेणी के मनुष्य की भाँति उनसे व्यवहार करने में कुण्ठित नहीं होते थे। एकबार एक अति कामातुरा वङ्गदेशीया स्त्री उनके यहाँ कई दिन आई और नानाप्रकार की भावुकता-पूर्ण चर्चायें चलाने लगी, जिससे श्रीरामदासजी ने एकदिन कथा-प्रसंग में उससे ऐसी कामभावापन्न बात कही कि वह अतिशय लज्जित होकर वहाँ से ऐसी भागी कि फिर कभी उसने उनके पास आने का साहस नहीं किया।

सांसारिक पापियों के साथ वे जैसे समभाव से व्यवहार करते थे, उच्चसाधनसम्पन्न और सिद्धपुरुषों के साथ भी ठीक उसी प्रकार निर्विकार भाव से व्यवहार करते थे। कोई अति विख्यात सिद्धपुरुष उनके दर्शन के लिये आते, तो भी उनको कुछ भी सावधान होते नहीं देखा गया। साधारणजनों से व्यवहार करते समय उनका जैसा सहज भाव लक्षित होता था, सिद्धपुरुषों से व्यवहार करने में भी उनमें ठीक उसी प्रकार का सहज भाव लक्षित होता था। इसका एक दृष्टान्त नीचे दिया जाता है—

श्रीताराकिशोरजी ने लिखा है—"व्रजधाम में एक अति लघु-काय साधु थे; वे कभी-कभी श्रीबाबाजीमहाराज के दर्शन को आते थे। मैंने कई बार उनको देखा है। उनको लोग 'कल्पान्ती' कहते थे अर्थात् साधुओं में यह प्रसिद्ध था कि उनकी आयु एक कल्प की है। वे दर्शन के लिये आते तो श्रीबाबाजीमहाराज उनसे ठीक

वैसे ही सहज भाव से व्यवहार करते थे, जैसे किसी अन्य मान्य-पुरुष से। उनके व्यवहार में कुछ भी पार्थक्य मैं लक्षित नहीं कर सकता था।"

श्रीविजयकृष्ण गोस्वामीप्रभु प्रथमबार श्रीबृन्दावन में रहते समय कभी-कभी श्रीरामदासजी के दर्शन को आते थे। वे आकर दण्डवत् करने के पश्चात् औरों की भाँति कुछ देर चुप-चाप बैठे रहकर फिर दण्डवत् कर चले जाते थे। श्रीरामदासजी उस समय वहिर्दृष्टि से उनसे कोई वार्त्तालापादि नहीं करते थे, वरन् निकटस्थ अन्य लोगों से नानाप्रकार की बातचीत करते रहते थे। एक दिन श्रीअभयनारायणजी ने श्रीगोस्वामीप्रभु से पूछा—"आप श्रीबाबाजी महाराज के पास जाते हैं, किन्तु कोई भी प्रसंग छेड़े बिना चुपचाप क्यों बैठे रहते हैं ?" इसके उत्तर में श्रीगोस्वामीप्रभु ने कहा—"मैं उनसे वार्त्तालाप किया करता हूँ। वे मेरे प्रश्नों के उत्तरों की भीतर ही भीतर प्रेरणा देते रहते हैं।" श्रीअभय-नारायणजी बोले—"भीतर ही भीतर प्रेरणा कैसी, यह तो मेरी समझ में नहीं आता है।" उन्होंने कहा—"आपलोग मुँह से जिस प्रकार बात करते हैं, ठीक उसी भाँति मेरे अन्तःकरण से वे बातें करते हैं जिन्हें मैं सुन लेता हूँ।"

श्रीताराकिशोरजी ने लिखा है—"सम्वत् १९५० (१८९४ ईसवी) के प्रयाग के कुम्भमेले में अनेक ख्यातनामा सिद्ध महा-पुरुष पधारे थे। उन में से कोई-कोई कभी-कभी श्रीबाबाजी महाराज के दर्शन के लिये उनके यहाँ आते और कुछ दूर ही से

उनको दण्डवत् कर लौट जाते थे। किन्तु दण्डवत् करने पर अन्य साधारण जनों को वे जैसे सहज भाव से हाथ उठाकर आशीर्वाद देते थे ठीक वैसे ही उन महापुरुषों को भी वे आशीर्वाद देते थे। इन दोनों में उनके भाव का कुछ भी प्रभेद कभी लक्षित नहीं होता था।"

श्रीरामदासजी के आश्रम में जब श्रीभगद्विग्रह की स्थापना की गई तब एकदिन श्रीराधिकाजी के साथ श्रीविहारीजी की सवारी निकालकर श्रीवृन्दावन नगर में घुमायी गई। श्रीरामदासजी, श्रीताराकिशोरजी और श्रीअभयनारायणजी आदि उस सवारी के साथ चलते-चलते जब गौतमपाड़ा में पहुँचे, तब गोपियों ने दर्शन के लिये आकर श्रीराधिकाजी और श्रीविहारीजी को चारों ओर से घेरकर नृत्य-गीत आरम्भ किया। उस समय अचानक श्रीतारा-किशोरजी ने देखा कि श्रीरामदासजी के अङ्ग-अङ्ग के प्रत्येक लोमकूप से वर्षा की जलधारा के सदृश अविश्रान्त स्वेद प्रवाहित हो रहा है। ऐसी स्वेदधारा पहले उन्हें कभी दृष्टिगोचर नहीं हुई थी। यह देखकर वे तुरन्त एक पङ्खा लेकर झलने लगे। श्रीरामदासजी ने हँसकर कहा—"बाबा! यह ग्रीष्म का स्वेद नहीं है। पङ्खा झलने से यह बन्द नहीं होगा। यह एक प्रकार का प्रेमज्वर है। श्रीराधिकाजी के चारों ओर इन गोपियों को देखने से मुझ में एक प्रकार का प्रेमज्वर आ गया है, जिससे यह स्वेदप्रवाह हो रहा है। ऐसा प्रेमज्वर मुझको इससे पहले भी कई बार हुआ है। एकबार एक मास तक अविच्छिन्न-भाव से रहा। किन्तु उसबार शरीर से विन्दुमात्र भी स्वेद नहीं निकला था, समस्त शरीर

अग्निवत् उत्तप्त रहता था। उस समय शरीर की रोमावली और जटा काँटे की भाँति खड़ी रहती थी। तुम्हारे पङ्खा झलने से मेरे इस समय का स्वेद कभी बन्द नहीं होगा।" इन बातों को उन्होंने ऐसे निर्लिप्त भाव से कहा कि मानो किसी दूसरे की दशा का वर्णन कर रहे हैं। उनके उस एकमास-कालस्थायी प्रेमज्वर की दशा के लक्षण श्रीताराकिशोरजी ने उनके बड़े गुरुभाई श्रीगरीबदासजी से पहले ही सुना था। वास्तव में उनका बाह्य सङ्ग जैसा होता था वैसे ही उनके सब बाह्यभाव और व्यवहार भी प्रकट होते थे। परन्तु वे स्वयं एक उद्देश्य-शून्य बालक की भाँति सदा निर्लिप्त भाव से रहते थे। अपने बाह्य व्यवहारों के विषय में एकबार उन्होंने बात ही बात में श्रीताराकिशोरजी से कहा था—"बाबा! हाथी के दो दाँत रहते हैं, एक बाहर दिखाने का और दूसरा भीतर खाने का। भीतर का दाँत दूसरों को मालूम नहीं पड़ता है। सन्तन की भी ऐसी ही दो वृत्तियाँ रहती हैं—एक बाहर दिखाने की और दूसरी अपने भीतर की, उसकी खबर किसी को नहीं मिलती।"

एकदिन कथा प्रसंग में श्रीअभयनारायणजी ने श्रीरामदासजी से कहा—"बाबा आप इसप्रकार से आत्मगोपन करते हैं कि साधारण विद्याहीन मनुष्य की अपेक्षा आपके कुछ भी अधिक शक्तिशाली होने का किसी को ज्ञान नहीं होता है। इससे हम लोगों को भी कभी-कभी सन्देह में पड़ना होता है। आप अपने को क्यों इतना छिपाते हैं?" इस बात को सुनकर कुछ उदास होकर श्रीरामदासजी बोले—

"अभयराम ! तुम भी ऐसी बात कहते हो ! अच्छा, तुम्हारे मन में जो कुछ हो, कहो, मैं वही दिखा दूँगा; किन्तु पीछे फिर मेरा दर्शन नहीं मिलेगा। उसी समय मैं यहाँ से भागूँगा।" श्रीअभयनारायणजी बोले—"ऐसी बात आप क्यों कहते हैं ? फिर आप के दर्शन क्यों नहीं मिलगे ?" वे बोले--"अपनी सच्ची शक्ति का कुछ भी भाग यदि मैं प्रकट करूँ तो अग्नि को देखकर जैसे कोट-पतङ्गादि चारों ओर से आकर उसमें गिरते हैं, वैसे ही असंख्य मनुष्य आकर मुझको घेर लेंगे, जिससे मेरा यहाँ रहना असम्भव हो जायेगा। जहाँ कहीं मैं जाऊंगा वहीं ऐसा होगा।" इस प्रकार सच्चे तात्पर्य को समझकर श्रीअभयनारायणजी चुप हो गये।

श्रीताराकिशोरजी ने स्वयं हमलोगों से एक घटना निम्नप्रकार वर्णना की है :—

उनकी दोक्षा के लगभग दो वर्ष पश्चात् आश्रम में नया मन्दिर बना और उसमें श्रीराधाविहारीजो का विग्रह स्थापित किया गया। श्रीठाकुरजी की प्रतिष्ठा के पश्चात् एक या दो दिन व्यतीत होने पर मध्याह्न के समय प्रसाद पाकर श्रीताराकिशोरजी अपनी स्त्री और श्रीअभयनारायणजी से आश्रम के एक कमरे में बैठे बातें कर रहे थे और श्रीरामदासजी धूनी के कमरे में बैठे थे। अचानक वे वहाँ से उठकर उन लोगों के कमरे के द्वार पर आकर खड़े हुए जिससे वे तीनों भी उठकर खड़े हो गये। श्रीताराकिशोरजी की ओर लक्ष्यकर वे बोले—"बाबू, तुमलोग इन ठाकुरजी को बड़े भारी करामाती ठाकुर जानना। तुम इस समय उनके मन्दिर में जाओ

और मन में जो हो वरदान माँग लो, इसमें संकोच न करना, जो मन में हो वही माँगना।" श्रीताराकिशोरजी ने हाथ जोड़कर कहा—"बाबा! आप प्रसन्न रहें यही मैं चाहता हूँ, आपके प्रसन्न रहने से मुझे किस बात की कमी हो सकती है? और क्या वरदान मैं माँगू?" वे बोले—"हाँ, तुम्हारी बात सच्ची है। मेरे प्रसन्न होने से तुमको सब कुछ मिल सकता है और तुमको मिलेगा भी। किन्तु परीक्षा भी तो कुछ करनी चाहिये। मैं कहता हूँ जाओ, जो मन में हो वह वरदान माँग लो।"

श्री ताराकिशोरजी उनकी आज्ञा को सुनकर चुपचाप मन्दिर में गये और दण्डवत् प्रणाम कर उन्होंने यह प्रार्थना की कि—"हे प्रभो, गीता में आपने कहा है —

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

—ब्रह्मभाव में स्थित प्रसन्नात्मा पुरुष किसी विषय के लिये शोक नहीं करते हैं और किसी वस्तु की आकांक्षा भी नहीं करते हैं, समस्त प्राणियों में उनका समदर्शन होता है, तब वे पराभक्ति लाभ करते हैं। पराभक्ति के द्वारा मैं जिस प्रकार हूँ, मेरा यथार्थ स्वरूप क्या है, इस विषय में तत्त्व के साथ वे मुझ को जान सकेंगे। इस प्रकार मुझको तत्त्व के साथ जानकर तत्पश्चात् वे मुझ में ही प्रविष्ट होते हैं। इन श्लोकों में जो सब अवस्थायें

वर्णित हुई हैं, उनमें से मनुष्य-देह में जो सब अवस्थायें लाभ हो सकती हैं वे ही मैं पाने की इच्छा करता हूँ। आपकी कृपा से ये ही हो, मैं और कुछ नहीं चाहता हूँ।"

तत्पश्चात् उनकी स्त्री और श्रीअभयनारायणजी ने भी मन्दिर में जाकर दण्डवत् प्रणाम करके अपनी-अपनी इच्छानुसार प्रार्थना की। उस समय श्रीरामदासजी धूनी के कमरे में जा बैठे थे। पर वे तीनों जब लौटकर अपने कमरे में जाकर बैठे, तब श्रीरामदासजी फिर उस कमरे के द्वार पर आकर खड़े हुए और श्रीताराकिशोरजी से बोले—"तुम्हारा यह होगा और वह होगा।" (श्रीताराकिशोरजी ने जो प्रार्थनायें की थीं, उनका उल्लेख करके वे उन सबकी पूर्ति की बात कहने लगे।) अन्त में वे बोले—"तुमको महन्ताई भी मिलेगी। ये सच न हो तो मैं सच्चा साधु नहीं हूँ।" श्रीअभयनारायणजी और उनकी स्त्री को भी उन्होंने वैसे ही आशीर्वाद दिया। उन दोनों में से किनको क्या आशीर्वाद उन्होंने दिया था, यह श्रीताराकिशोरजी को स्मरण नहीं आता था क्योंकि उन दोनों ने क्या-क्या वरदान माँगे थे, यह उन्होंने उनसे नहीं जानना चाहा था और बाद में उस विषय में उनसे उनकी बातचीत भी नहीं हुई थी। किन्तु श्रीरामदासजी ने श्रीअभयनारायणजी को जो आशीर्वाद दिये थे, उनमें से एक बात श्रीताराकिशोरजी को ख्याल था—"तुमको भक्ति-लाभ होगा।" श्रीरामदासजी के पूर्वोक्त आचरण और व्यवहारों को इसप्रकार वर्णन करके श्रीताराकिशोरजी ने उनकी जीवनी में लिखा है :—

"श्री बाबाजी महाराज के बाह्य आचरण और व्यवहार को देखकर उनके आभ्यन्तरिक भाव का भेद जानना साधारण मनुष्यों के लिये असम्भव था, जैसा कि उन्होंने 'हाथी के दो दाँत रहते हैं' इत्यादि पूर्वोक्त वाक्यों से स्वयं प्रकट किया था। अतएव उनके बाह्य आचरण के सम्बन्ध में और अधिक उल्लेखकर मैं ग्रन्थ के कलेवर को बढ़ाना अनावश्यक समझता हूँ। इसके अतिरिक्त उनके कोई कोई कार्य साधारण-बुद्धि से इतने परे होते थे कि जिन्होंने उन कार्यों को स्वयं देखा है, उनके अतिरिक्त दूसरे लोग उनपर किसी प्रकार से विश्वास नहीं कर सकेंगे। इसलिये मैं इस ग्रन्थ में उनका वर्णन नहीं करना चाहता। मुझे यह भी बोध नहीं होता कि जिन घटनाओं का उल्लेख इस ग्रन्थ में किया गया है, उन सब पर ही विश्वास करना सर्वसाधारण के लिये सम्भव होगा।

बहुत दिनों तक श्रीबाबाजी महाराज का सङ्ग करते-करते क्रमशः मैंने यह अनुभव किया था कि उनका चरित्र मूर्तिमान गीता-स्वरूप था। श्रीमद्भगवद्गीता में उल्लिखित है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
इहैव तैर्जितः स्वर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

(गीता पंचम अध्याय १८, १९)

और उसी पंचम अध्याय के दशम श्लोक में फिर उक्त हुआ है:—

'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥'

श्रीबाबाजी महाराज के आचरणों को देखते देखते यह मेरा अनुभव हुआ कि वे इन सब गीता-वाक्यों के मूर्त्तिमान स्वरूप थे।"

श्रीरामदासजी के उपदेश

अब साधकों के हित के लिये श्रीरामदासजी जो उपदेश देते थे उनमें से यहाँ थोड़ा कुछ लिपिबद्ध कर रहा हूँ—

श्रीरामदास जी उपदेश देते थे कि साधारण कल्याणार्थी मनुष्यों को यह आवश्यक है कि वे निष्कपट भाव से और आलस्य-वर्जित होकर निष्ठापूर्वक श्रीभगवद्विग्रह और महात्मा पुरुषों की सेवा करें। उनका यह भी उपदेश था कि—रात्रि के अन्तिम भाग में दो घण्टे और संध्या के समय दो घण्टे नाम जप करना बहुत है। सेवा करते-करते चित्त के एकाग्र होने पर वास्तविक भजन करने का अधिकार लाभ होता है। सेवा से चित्त निर्मल होता रहता है, आलस्य दूर होता है और क्रमशः निष्ठा-वृद्धि के साथ-साथ चित्त की एकाग्रता की वृद्धि होती है।

एकबार आश्रम के सम्बन्ध में बाजार करने का कोई कार्य उपस्थित होने पर नाम जपने के कारण उस कार्य के लिये जाने में

श्रीताराकिशोरजी को बिलम्ब करते देखकर श्रीरामदासजी ने अप्रसन्नता का भाव प्रकाश किया। एकदिन एक व्रजवासी भृत्य को एक पैर से खड़ा होकर कोई मन्त्र-जप करते देख उसको किसी काम में लगाने के विचार से श्रीरामदासजी ने उससे पूछा—

"तू क्या करता है?" उसने कहा—"महाराज! मैं भजन कर रहा हूँ।" इस पर हँसकर वे बोले—"अरे! भजन का घर बहुत दूर है, भजन अभी तेरे से नहीं बनेगा, अब तू सेवा का काम करता जा।"

एकदिन श्रीताराकिशोरजी ने श्रीरामदासजी से विनय-पूर्वक निवेदन किया—'महाराज! मैं भजन तो कुछ भी नहीं कर सकता हूँ, बैठकर नाम जप करने तक के लिए भी अधिक समय नहीं पाता हूँ, और जप करने भी लगता हूँ तो मेरा मन स्थिर नहीं होता।" उन्होंने कहा—"हाँ, यह मैं जानता हूँ। तुम अभी क्या भजन करोगे? भजन करने की कोई सामर्थ्य अभी तुम में नहीं है। तुम्हारा भजन तो मैं ही कर रहा हूँ।" दूसरे एक दिन श्रीताराकिशोरजी के शरीर के भीतर हृदय-प्रदेश में कुण्डलिनी शक्ति पहुँचकर वहाँ आघात कर रही है देखकर उन्होंने श्रीरामदासजी कहा—'महाराज! मेरे वक्षस्थल के भीतर शक्ति अटक रही है।" वे बोले—"हाँ, वहाँ कमल है, वही रोक देता है।" उन्होंने कहा—"महाराज! इसीको आप कृपा कर छुड़ा दीजिए।" इस पर उनको बहुत डपटकर वे बोले—"मैं नहीं छुड़ाऊँगा।" उनके इस उत्तर का अर्थ समझने में असमर्थ होकर श्रीताराकिशोर जी

चुप रह गये। कुछ देर पश्चात् वे अपने-आप बोले—"इस समय यदि मैं तुम्हारे हृदय की इस ग्रन्थि को छुड़ा दूँ तो तुमसे और कोई काम ही नहीं होगा, तुमको संसार में बहुत काम करना होगा, समय आने पर इसे मैं छुड़ा दूँगा।"

उन्होंने श्रीताराकिशोरजी को उपदेश किया था कि भगवत्प्राप्ति के विषय में गृहस्थाश्रम और संन्यासाश्रम में कोई भेद नहीं है। संन्यासाश्रम का अवलम्बन कर समुचित साधनादि करने से नाना-प्रकार की अलौकिक शक्तियाँ प्रकट होती हैं, जिनके द्वारा सांसारिक मनुष्यों के अनेक हित किये जा सकते हैं। ये शक्तियाँ गृहस्थाश्रम में प्रायः प्रकट नहीं होतीं। दोनों में केवल इतना ही भेद है। भगवत्साक्षात्कार-लाभ केवल गुरु की कृपा से ही होता है, इस सम्बन्ध में दोनों आश्रम ही समान हैं। वे कहते थे कि "विधिपूर्वक सब कामकाज करते जाओ और अन्तःकरण में सदा भय रक्खो, भगवान् सदैव साथ हैं और देख रहे हैं, यह ध्यान में रखकर काम-काज करने से जीव सहज में कल्याण लाभ करता है।" यह वे बार-बार कहते थे।

चित्त निर्मल होने से क्रमशः सात सिद्धभूमियाँ एक के अनन्तर दूसरी लाभ होती हैं। इन सब सिद्धभूमियों की बात श्रीरामदासजी प्रायः प्रकट नहीं करते थे। श्रीताराकिशोरजी ने एक ही दिन इन भूमियों का तत्त्व उनसे सुना था। इनमें से पाँच भूमियों के भेद साधारणतः ग्रन्थादि में प्रकाशित हैं। पञ्चमभूमि को अतिक्रम करने वाले पुरुष प्रत्येक युग में दुष्प्राप्य हैं। इसलिये इन पाँच

भूमियों का ही विवरण संक्षेप में श्रीताराकिशोरजी ने श्रीरामदास जी की जीवनी में लिखा है। इन भूमियों के विषय में चिन्तन करने से एक तो साधारण साधकों का साधनाभिमान दूर हो सकता है और दूसरे उच्चभूमियों के आदर्श ध्यान में आने से साधन विषय में यत्न और निष्ठा की वृद्धि हो सकती है; इसी विचार से श्रीताराकिशोरजी ने श्रीरामदासजी-वर्णित इन भूमियों का विवरण जैसा लिखा है, वह नीचे उद्धृत किया जा रहा है।

प्रथमभूमि :—

इस भूमि के साधक की स्थिति इस प्रकार है—

गुरु तीरथ अनुराग, विषय विष कर मान।
इस ही को जानो, प्रथम भूमि का प्रमाण ॥

इस भूमि में विषय के प्रति सम्पूर्ण अनासक्त भाव और गुरु और तीर्थ में स्वाभाविक अनुराग उत्पन्न होता है। यह भाव क्षणस्थायी नहीं है। प्रथमभूमिप्राप्त साधक का यह भाव स्वभावतः चिरस्थायी होता है।

द्वितीयभूमि :—

हम में कौन जगत् में कौन इस का ध्यान।
इसको जानो दूसरी भूमि का प्रमाण ॥

जगत् के असंख्य कार्यों की शृंखला और जीव के भाव-समूह के नियामक और प्रवर्त्तक का ध्यान जिसको स्वाभाविक हो गया

है, वही दूसरी भूमि को प्राप्त हुआ है। यह ध्यान केवल थोड़ी ही देर के लिये नहीं होता, पर स्वाभाविक और सर्वकालस्थायी होता है। पिपासार्त्त पुरुष जैसे सर्वत्र जल का अन्वेषण करता है और उसको न पाने तक किसी भी प्रकार से शान्ति लाभ नहीं कर सकता है, उसी प्रकार द्वितीय-भूमिप्राप्त पुरुष भी अपने और जगत् के नियन्ता को जानने का अहर्निश प्यासा बना रहता है।

तृतीयभूमि :—

एक ब्रह्म जगत् में जीव में बसते हैं और सबका कारण।
यही है तीसरी भूमि का प्रमाण ॥

तृतीयभूमि को लाभ किये हुये साधक को यह निश्चित रूप से अनुभव होता है कि ब्रह्म सर्व-व्यापक हैं और वे ही अपने और समस्त जगत् के आधार हैं। अनुमान के द्वारा भी अनेक लोग इस सिद्धान्त में पहुँचते हैं; किन्तु अनुमान से जो ज्ञान होता है, वह किसी भूमि का लक्षण नहीं है। तृतीय-भूमि प्राप्त पुरुष का ज्ञान क्षणस्थायी आनुमानिक ज्ञान नहीं है। उनका चित्त जागतिक समस्त व्यापारों को अतिक्रम करके अवस्थित रहने से जागतिक सर्वविध सिद्धियाँ उनके करतलगत होती हैं।

चतुर्थभूमि :—

सर्वत्र समदर्शन और अखण्ड सन्तोष।
चौथा भूमिका प्रमाण ॥

सर्वत्र एक ब्रह्मशक्ति का कार्य हो रहा है, यह ज्ञान चतुर्थ-भूमिप्राप्त पुरुष में प्रकट होता है, इसलिये उनकी भेदबुद्धि सम्पूर्ण-रूप से मिट जाती है। चतुर्थभूमिलब्ध पुरुष बहुत विरले हैं। सुख-दुःख, लाभ-हानि आदि कोई अवस्था ही इस भूमिप्राप्त पुरुष के सन्तोष में कुछ भी न्यूनता नहीं कर सकती।

पञ्चम भूमि :—

नारद भक्ति प्रेम पञ्चम भूमि का प्रमाण।

पञ्चम भूमि में पहुँचे हुए साधक में अहेतुक प्रेम उपजता है जो पराभक्ति नाम से भी आख्यात होता है। नारद ऋषि ने भगवान् के वरदान से यह प्रेममय भूमि प्राप्त की थी। तब से यह भूमि नारद-भूमि के नाम से आख्यात हुआ है। इस भूमि में पहुँचने से चित्त के सम्पूर्ण निर्मल होने के कारण साधक का अधःपतन फिर कभी सम्भव नहीं है। इसके उपरान्त और जो दो भूमियाँ क्रम से हैं वे अपने आप क्रमशः प्राप्त होती हैं।

इसके अनन्तर श्रीताराकिशोरजी ने लिखा है :—

"इन भूमियों के स्वरूप का विशेष वर्णन करने में श्रीबाबाजी-महाराज की अप्रवृत्ति का स्मरण कर मैं षष्ठ और सप्तम भूमि के लक्षण के वर्णन से निवृत होता हूँ। इन सात भूमियों में किस किस में कौन-कौन विख्यात ऋषि पहुँचे थे तथा किस-किस भूमि में आधुनिक काल के महात्मा—गुरुनानक, तुलसीदास, श्रीधर आदि पहुँचे थे, यह भी श्रीबाबाजी महाराज ने प्रसङ्गवश वर्णन

किया था, किन्तु उन सब विषयों का प्रकाश करना असंगत समझ-कर यहाँ उन सब का उल्लेख नहीं किया गया। बाह्य-तर्क-प्रमाण से इन महात्माओं की अवस्था का निर्णय करना सम्भवपर नहीं है। जिनकी दिव्यदृष्टि प्रस्फुटित हुई है, वे ही साक्षात् सम्बन्ध में इन सब अवस्थाओं का निर्णय करने में समर्थ होते हैं। सप्तमभूमि प्राप्त महापुरुषों के सम्बन्ध में श्रीगुरुजी महाराज के उपदेशानुसार केवल इतनी ही बात कहता हूँ कि उनके कार्यकलाप लीलामय होते हैं, तनु लीलामय और देहत्याग इत्यादि कार्य भी लीलामात्र हैं। उनके कार्यकलाप के सम्बन्ध में जीवों के सर्वविध विचार व्यर्थ और निष्फल हैं। वे दूसरों की उपासना और भजन के पात्र होते हैं।"

अन्तर्धान

इसी भाँति की लीला करते बंगला सन् १३१६ (ई० सन् १९१०) के माघ की आठवीं तारीख को रात्रि के अन्तिम भाग में श्रीरामदासजी ने मनुष्य-लीला समाप्त की। उसी वर्ष के कार्तिक-मास के अन्तिम भाग में श्रीताराकिशोरजी जब श्रीवृन्दावन से कलकत्ता लौटने के समय उनसे विदा लेने गये तो श्रीरामदासजी बोले– "बाबा! मेरी एक बात सुनो, मेरे शरीर का इस समय कोई ठिकाना नहीं है; नहीं कहा जा सकता कि कब क्या होगा; तुमको तार भेजा जायेगा, तार पहुँचने पर तुम तुरन्त यहाँ आ जाना।" उनकी इस बात को सुनकर श्रीताराकिशोरजी दुःखित होकर बोले—"महाराज जी! तुमने मुझसे पहले कहा था कि नया मन्दिर

बन रहा है, उसमें तुम जाकर बैठोगे और मुझको भी काम से छुड़ाकर अपने पार्श्व में रक्खोगे, किन्तु मन्दिर के प्रस्तुत होने में तो अभी बहुत देर है और तुम्हारी वह बात अभी तक कार्य में परिणत नहीं हुई है; तो तुम अभी शरीर को कैसे छोड़ सकते हो? तुम्हारी वह सब पहले की बातें क्या मिथ्या होंगी?" उनकी इस बात पर श्रीरामदासजी बोले—"नहीं मेरी बातें मिथ्या नहीं होंगी, पर मेरी इस बात को भी जो अभी मैंने कही है तुम मत भूलना।" इसप्रकार की और भी एक-दो बात होने के पश्चात् श्रीतारा-किशोरजी ने कलकत्ता को प्रस्थान किया। श्रीरामदासजी का शरीर उस समय स्वाभाविक ही था, उनकी कोई विशेष अस्वस्थता श्रीताराकिशोरजी के ध्यान में उस समय नहीं आयी था। किन्तु उनके कलकत्ते पहुँचने के दो मास से कुछ ही अधिक समय में माघ-मास की ६ वां तारीख को उन्हें तार द्वारा समाचार मिला कि श्रीरामदासजी ने शरीर त्याग दिया है। उन्होंने उसीदिन डाक-गाड़ी से श्रीबृन्दावन की यात्रा की और ११ वीं तारीख को आश्रम में पहुँचकर देखा कि आश्रम की गौ की आँखों से आँसू बह रहे हैं। उन्होंने जाना कि श्रीरामदासजी के अन्तर्धान होने के पश्चात् से ही वे इस भाँति अश्रुमोचन कर रही हैं। यह भी देखा कि मन्दिर में प्रतिष्ठित श्रीराधिकाजी की मूर्त्ति के नेत्रों से मन्द-भाव से अश्रुवत् रस निर्गत हो रहा है। श्रीराधिका और श्रीकृष्ण दोनों विग्रहों की मुखकान्ति मलिन हो गयी है और मूर्त्तियाँ अत्यन्त भीषण-भाव धारण किये हैं तथा आश्रम भी सर्वथा श्रीहीन

हो गया है। उन्होंने सुना कि ८ तारीख के दिन में भी श्रीरामदास जी स्वस्थ थे, केवल अपराह्न में नियमित समय पर वे उसदिन शौच को नहीं गये। अर्धरात्रि के पश्चात् उन्होंने अपने कमरे में सोये हुए साधुस्वभाव रामफल नामक एक टहलुए को बुलाकर जल पिया और उससे कहा—"रामफल! ले भाई, तेरे हाथ का जल भी अब पी लिया, अब तू सोय जा, मैं भी अब जाऊँगा।" रामफल उनकी उस बात का ठीक अर्थ उस समय विशेष रूप से नहीं समझ सका था, इसलिये वह फिर सो गया। तदनन्तर कुछ देर के पश्चात् काशीराम नामक एक व्रजवासी पाचक ब्राह्मण और काशीदास नामक एक साधु दोनों ने अचानक जागकर देखा कि आश्रम के समस्त स्थान एक बृहत् ज्योति से परिपूर्ण हैं। यह देखकर उन दोनों ने विस्मित होकर श्रीरामदासजी के कमरे में प्रवेश कर देखा कि वे अपने आसन पर निष्पन्दभाव से उपविष्ट हैं, उनके निःश्वास और प्रश्वास बन्द हैं। तब उन दोनों ने उनके शरीर को छूकर देखा कि समस्त शरीर हिमवत् शीतल है, केवल ब्रह्मरन्ध्र उष्ण है। इस अवस्था को देखकर किसी किसी ने कहा कि श्रीबाबाजी महाराज समाधिस्थ हैं। दूसरे कोई कोई कहने लगे कि वे शरीर छोड़ रहे हैं। जो हो, कुछ देर के पश्चात् देखा गया कि ब्रह्मरन्ध्र की उष्णता भी चली गई। अन्त में ९ तारीख को प्रातःकाल में साधु और व्रजवासियों ने मिलकर धूमधाम से यमुनाजी के तट पर ले जाकर उनके शरीर का अग्निसंस्कार सम्पन्न किया।

श्री ताराकिशोर जी आश्रम में पहुँचकर इन सब घटनाओं को

देख सुनकर यमुनाजी के तट पर गये और वहाँ उन्होंने देखा कि यमुनाजी ने अपने कलेवर को बढ़ाकर श्रीरामदास जी के श्मशान-स्थान को अपने गर्भस्थ कर लिया है। जल में से उनकी अस्थि संग्रह कर उन्होंने आश्रम में संस्थापित किया और नूतन मन्दिर की प्रतिष्ठा के समय वहाँ से वह अस्थि नये आश्रम के एक स्थान में लाकर रक्खा।

स्थानीय प्रथा के अनुसार तेरहवें दिन आश्रम में श्रीतारा-किशोर जी ने श्रीरामदासजी के उद्देश भण्डारा किया। उसी दिन से आश्रमस्थ श्रीराधिकाजी के नेत्रों से अश्रुवत् रस की धारा का प्रवाह बन्द हो गया और दोनों देवविग्रहों के मुखारविन्दों का मलिन-भाव भी अदृश्य हो गया। पूर्वोक्त प्रकार से रसधारा कई दिनों तक बहने से श्रीराधिकाजी के नेत्र कुछ विरूप हो गये थे, इसलिए उनको परिवर्तन कर दूसरे नेत्र लगाने को बाध्य होना पड़ा था।

वास्तव में श्रीरामदासजी की मनुष्यलीला के विस्तार की घटनावली जैसे साधारण मनुष्यों की वुद्धि के परे है, वैसे ही उनके लीलासंवरण की घटनावली भी मनुष्य-वुद्धि के अगम्य है। अन्तिम बार उनसे बिदा लेकर आने के समय उन्होंने जो बातें श्रीतारा-किशोरजी से कहीं, उनका वास्तविक रहस्य उस समय इन्होंने नहीं समझा था और उनके अन्तर्धान होने के पश्चात् यह सन्देह भी इनके जी में हो गया था कि उनकी वे बातें निष्फल हुईं। पर

जब गुरुकृपा से व्यवसाय के कार्य से विमुक्त होकर इनके नूतन आश्रम में निवास करने की घटना सम्भव हुई तब ये समझ गये कि उनकी कही हुई बात कभी निष्फल और व्यर्थ होने की न थी। वास्तव में उनका शरीर छोड़ना भी एक लीलामात्र था। वे जब अद्यावधि अपने किसी-किसी शिष्य को पूर्ववत् दर्शन देकर उससे वार्त्तालाप करते हैं, तब उनकी जो मृत्यु नहीं है, और श्रुतियों में जो बार-बार उल्लिखित हुआ है कि ब्रह्मज्ञ-पुरुष अमरत्व को लाभ करते हैं, उस अमरत्व को जो वे प्राप्त हुए हैं इसमें सन्देह ही क्या रह सकता है ? वे जब जीवितकाल में एक ही समय भिन्न-भिन्न स्थानों में दर्शन देकर विविध व्यवहार करते थे, तब उनके किस शरीर की मृत्यु हुई कही जायेगी ?

यह भारतभूमि वास्तव में ही धन्य है क्योंकि अब तक ऐसे ब्रह्मर्षि इस भूमि में जन्म ले, लीला-विस्तार कर, इसे पवित्र कर रहे हैं। इत्यलम्।

ॐ तत्सत्

श्री धनञ्जयदास चैरिटेबुल ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित
निम्बार्कदर्शन अध्ययन ग्रन्थमाला

१– श्री निम्बार्क पद्धति

२– श्री निम्बार्क वेदान्त का संक्षिप्तसार (सुखचर काठिया बाबा आश्रम)

३– आचार्य परम्परा परिचय

४– श्री निम्बार्क जयन्ती स्मारिका

५– ब्रजविदेही महन्त तथा चतु:सम्प्रदाय श्री महन्त
श्री १०८ श्री रामदास काठियाबाबा जी
महाराज का जीवन चरित्र

६– ब्रजविदेही तथा चतु:सम्प्रदाय के (वृन्दावन काठियाबाबा आश्रम)
श्री महन्त श्री श्री १०८ स्वामी
श्री सन्तदास काठिया बाबाजी महाराज
का जीवन चरित्र

७– पातञ्जल दर्शन (यन्त्रस्थ)

प्राप्ति स्थान

सन्तदास काठियाबाबा का आश्रम

बी ३/३१०, शिवाला, वाराणसी-२२१ ००१ (उ० प्र०)